डी.सी.सी.टी.-03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा

डिप्लोमा कोर्स इन कल्चर एण्ड टूरिज़्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

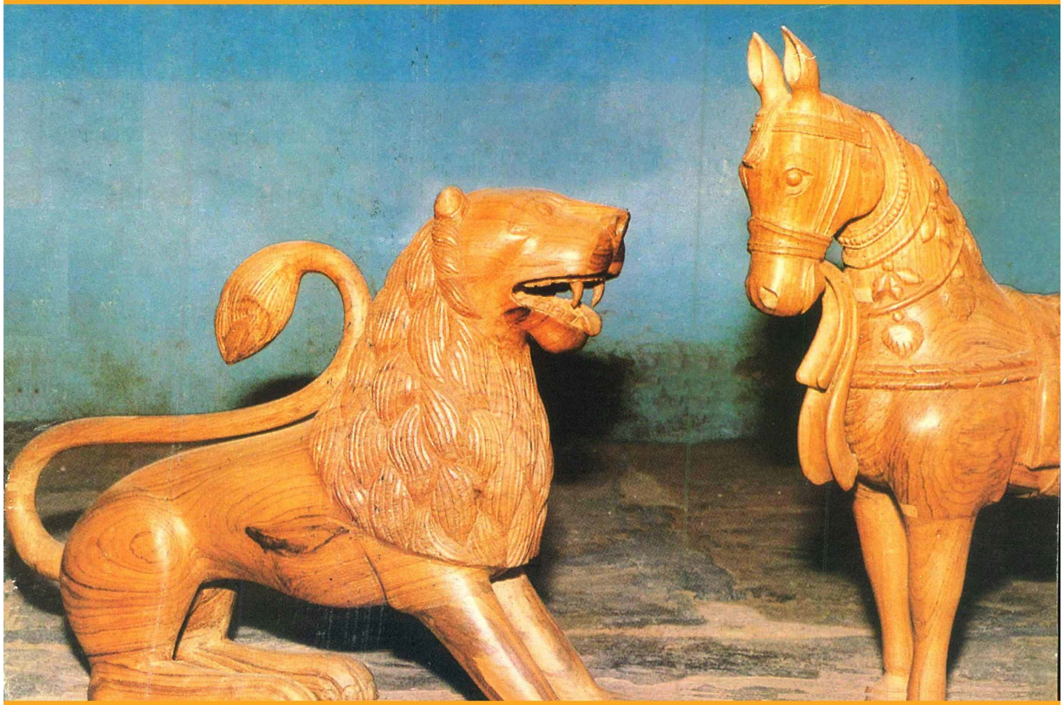

Traditions and Culture of the People of Rajasthan (Arts and Crafts)

“राजस्थान के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा”

डी.सी.सी.टी.-03

Diploma Course in Culture and Tourism 3

डी.सी.सी.टी.-03

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय
कोटा

डिप्लोमा कोर्स इन कल्चर एण्ड टूरिज्म
संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

Traditions and Culture of the People of Rajasthan (Arts and Crafts)

“राजस्थान के निवासियों की परम्पराओं एवं संस्कृति की एक रूपरेखा”

डी.सी.सी.टी. - 3

Diploma Course in Culture and Tourism 3

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

(1) प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा
कुलपति, कोटा खुला विश्वविद्यालय,
कोटा

(2) **डॉ. आर.के. सक्सैना**
रिटायर्ड अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एम.एल. सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

(3) प्रो. रविन्द्र कुमार
निदेशक, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम एण्ड लायब्रेरी,
तीन मूर्ति भवन, नई दिल्ली

(4) पदमश्री (श्रीमती) लक्ष्मी कुमारी चूड़ावत
प्रसिद्ध साहित्यकार एवं मनीषी,
बनीपार्क, जयपुर

(5) प्रो. एम.एस. जैन
रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(6) डॉ. नवीन माथुर
अध्यक्ष, मैनेजमेंट स्टडीज विभाग
जे.एन. व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

(7) प्रो. दिलबाग सिंह
अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

(8) **प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा**, **(पाठ्यक्रम संयोजक)**
अध्यक्ष,भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पाठ्यक्रम निर्माण दल

(1) डॉ.(श्रीमती) नीलिमा वशिष्ठ
एसोसियेट प्रोफेसर, फाइन आर्ट्स विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

(2) श्री रामकुमार
पत्रकार एवं कला समीक्षक
कोटा

(3) डॉ. रेखा भटनागर
विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग
कानौडिया, पी. जी. महाविद्यालय, जयपुर

(4) डॉ.(श्रीमती) वासुमती शर्मा
शोध अधिकारी, राजस्थान
प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान,जोधपुर

(5) डॉ.(श्रीमती) हेमलता कुमावत
विभागाध्यक्ष, चित्रकला विभाग
राजकीय महाविद्यालय, बूंदी

(6) **प्रो. जी.एस.एल. देवड़ा**,
अध्यक्ष,भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सम्पादन एवं संशोधन

प्रो. जी. एस. एल. देवड़ा, अध्यक्ष,
भारतीय संस्कृति एवं परम्परा विभाग,
कोटा खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

प्रो. (डॉ.)अनाम जेटली
निदेशक
संकाय विभाग

प्रोफेसर(डॉ.) पी.के. शर्मा
प्रभारी
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

सर्वाधिकार सुरक्षित : इस पाठ्यक्रम पुस्तिका का कोई भी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति प्राप्त किये बिना या मिमियोग्राफी अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करना वर्जित है।

कोटा खुला विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कुल सचिव वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा, रावतभाटा रोड, से प्राप्त की जा सकती है।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय

डी.सी.सी.टी. 3

डिप्लोमा कोर्स इन कल्चर एण्ड टूरिज्म

संस्कृति एवं पर्यटन में डिप्लोमा कोर्स

पाठ्यक्रम-तृतीय

खण्ड-तृतीय

3 राजस्थान के निवासियों की परम्पराएँ तथा संस्कृति(कला एवं शिल्प)

इकाई -15	पारम्परिक एवं ऐतिहासिक मूर्तिकला	7–20
इकाई -16	आधुनिक मूर्तिकला	21–34
इकाई -17	राजस्थान की लोककलाएँ	35–44
इकाई -18	चित्रकला - विभिन्न स्कूल एवं शैलियाँ	45–63
इकाई -19	राजस्थान के ग्रामीण संभाग में चित्रकला	64–81
इकाई -20	आधुनिक चित्रकला	82–91
इकाई -21	संग्रहालय, कला दीर्घाएँ एवं जन्तुशालाएँ	92–100

इकाई सं.15 "पारम्परिक एवं ऐतिहासिक मूर्तिकला"

इकाई संरचना

15.01 उद्देश्य

15.02 प्रस्तावना

15.03 भौगोलिक पृष्ठभूमि एवं प्रभाव

15.04 मूर्तिकला का वर्गीकरण

15.4.1 टेरा कोटा मूर्तियाँ

15.4.2 पाषाण मूर्तियाँ

15.4.3 धातु मूर्तियाँ

15.05 अन्य महत्वपूर्ण विवरण

15.06 इकाई सारांश

15.07 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.08 संदर्भ ग्रंथ

15.1 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको भारतीय मूर्तिकला के संदर्भ में राजस्थान की पारम्परिक मूर्तिकला का माध्यम एवं शैली के आधार पर वर्गीकरण, तथा पारम्परिक लोक शैली का अन्तर स्पष्ट करेंगे । इसके पश्चात् राजस्थान की मूर्तिकला का प्रारम्भ, मूर्तिकला पर ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक परिस्थितियों के प्रभाव, स्थापत्य के अंग के रूप में विकास, विषय वस्तु के आधार पर मूर्तियों का वर्गीकरण-वैष्णव, शैव, शाक्त और संयुक्त एवं जैन मूर्तियों की विशेषताएं, आलंकारिक योजना एवं कलात्मक अभिप्रायों का विवेचन करेंगे । इस इकाई का अध्ययन कर लेने पर आपको राजस्थान के प्रमुख मंदिरों तथा संग्रहालयों में संरक्षित मूर्तियों का ज्ञान हो जावेगा ।

मूर्तिकला का विकास, प्रकार, शैलीगत रख क्षेत्रीय विशेषताएं एवं भारतीय शिल्प परम्पराओं में राजस्थान की मूर्तिकला के योगदान का ज्ञान भी होगा ।

15.02 प्रस्तावना

पारम्परिक मूर्तिकला से तात्पर्य उस शैली की मूर्तियों से है जो किसी शिल्प विधान के अनुसार बनाई गई हों एवं जिनका एक निश्चित व्याकरण एवं उद्देश्य हो । भारतीय शिल्पशास्त्रों के अनुसार मूर्ति का तात्पर्य सूक्ष्म अनुभूति के साकार चाक्षुष रूप से है । मानव ने प्रकृति के सम्पर्क में जिन शक्तियों की अनुभूति की तथा अपनी कल्पना के अनुसार उस सूक्ष्म अनुभूति को एक साकार तथा प्रमाण, परिमाण आदि द्वारा एक आदर्श मानव या प्राकृतिक रूप प्रदान किया । इस रूप को पाषाण, काष्ठ, मृत्तिका आदि माध्यमों द्वारा मूर्त को त्रिआयामीय स्वरूप प्रदान किया । इस परिभाषा के क्षेत्र के अन्तर्गत निर्मित हुई मूर्तियों पारम्परिक एवं उनके निर्माण की शैली पारम्परिक मूर्तिकला के नाम से जानी जाती है ।

राजस्थान की पारम्परिक मूर्तिकला में भारतीय मूर्तिकला परम्पराओं की ही अनुपालना है यद्यपि कुछ क्षेत्रीय विशेषताएं माध्यम, भौगोलिक स्थितियों, राजनीतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के कारण से हो गई है परन्तु मुख्य धारा से बहुत अधिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता है । इस इकाई में इन विशिष्टताओं का उल्लेख पृथक् रूप से न करके संदर्भ के अनुसार ही किया गया है, जिनका क्रमश: उल्लेख होगा।

15.03 भौगोलिक पृष्ठभूमि तथा उसका प्रभाव

वर्तमान राजस्थान मध्यकाल में रियासतों के समूह के रूप में था तथा महाभारत काल मे जनपदों के रूप मे था । इसकी भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमाएं भी बदलती रही हैं । सांस्कृतिक इकाई के रूप में प्राचीन एवं मध्यकालीन मूर्तिकला परम्पराओं का अध्ययन करने के लिए यह अनिवार्य रूप में स्मरण में रखना चाहिए कि आज का राजस्थान पहले गुर्जर के देश का एक भाग था । गुर्जर या गुर्जर भूमि में राजस्थान, गुजरात, मालवा (वर्तमान में मध्यप्रदेश) का कुछ भाग अन्तर्निहित था ।

वर्तमान राजस्थान प्रदेश राजपूताना की उन्नीस रियासतों तथा अजमेर-मेरवाड़ा के ब्रिटिश प्रान्त का समूह है, जो अपनी सम्पदा के कारण मूर्तिकला की परम्पराओं को संरक्षित किए हुए हैं । मूर्तिकला के अध्ययन में इस क्षेत्र का महत्व इसलिए भी अधिक है कि जब उत्तरी भारत में राजनीतिक सत्ता की उथल-पुथल के कारण आठवीं शताब्दी के बाद मूर्तिकला की परम्परा क्षीण होने लगी तब यह सूत्र राजस्थान, तथा मध्यप्रदेश ने ग्रहण किया । राजस्थान की मूर्तिकला के क्षेत्र में 8 वीं से 15 वीं शताब्दी के बीच का समय मूर्ति एवं मंदिर निर्माण, तथा पुननिर्माण का समृद्ध युग है । जबकि इस अवधि को उत्तर भारत के इतिहास में अंधकार या अवरुद्ध उन्नति का युग कहां गया है । राजस्थान के राजनीतिक इतिहास पर दृष्टिपात करने पर एक तथ्य और यह भी सामने आता है कि राजनीतिक सत्ता के लिए युद्धों के बावजूद भी आक्रांताओं ने मंदिरों एवं मूर्तियों को हानि नहीं पहुँचाई न ही मंदिर निर्माण गतिविधियों में कोई अवरोध आया है । आठवीं से दसवीं शताब्दी में राजस्थान की मूर्तिकला की सबसे अधिक समृद्ध परम्परा प्राप्त होती हैं ।

राजस्थान की भौगोलिक जलवायु, अरावली पर्वत श्रेणियों से समृद्ध वन -सम्पदा, तथा व्यापारिक मार्गों की भी मूर्तियों के निर्माण एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका है । पाषाण की सुलभता तथा प्रकार नदियों की घाटियों के उपजाऊ प्रदेश, पर्याप्त वर्षा ने राजस्थान के दक्षिणी भूभाग में कला एवं संस्कृतियों के विकास के लिए अनुकूल वातावरण प्रदान किया है । इसके विपरीत मरु भूमि का कठिन जीवन, रेतीले प्रदेशों में पाषाण का अभाव मूर्तिकला के विकास के प्रतिकूल है । जलवायु की इस विविधता के कारण बाड़मेर, जैसलमेर, बीकानेर आदि क्षेत्रों की अपेक्षा मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कोटा, झालावाड़, भतरपुर, अलवर के क्षेत्र में अधिक मंदिर की सुलभता तथा विशेषता भी मूर्तिकला को प्रभावित करती है । इसीलिए अलवर, भरतपुर, सीकर के मंदिरों में संगमरमर तथा गुलाबी बलुआ पत्थर, जोधपुर के ओसियो के मंदिरों की अपेक्षा अधिक कठोर है । यही कारण है कि ओसियो के मंदिरों की मूर्तियो अधिक तीव्रता से खराब हो रही हैं । उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा में काला या सलेटी पत्थर अधिक मिला है, जिसमें ग्रेनाइट का अंश अधिक होने के कारण मूर्ति अधिक मजबूत तथा उपयुक्त है । भौगोलिक स्थिति मंदिरों के निर्माण में सहायक होने के साथ ही मंदिरों को प्राकृतिक सुरक्षा भी प्रदान करती है । पहाड़ी प्रदेशों तथा घने जंगलों में स्थित मंदिर आक्रमणकारियों के ध्यान में भी सरलता

से नहीं आते । यही कारण है कि विदेशी आक्रमणों के समय भी देलवाडा, टूस एवं राजगढ़ (पड़ानगर, अलवर) के मन्दिर सुरक्षित रह सके, जबकि हर्षनार्य सीकर के हर्षनाथ देवालय का ऊँचा शिखर दूर से ही विजेताओं का ध्यान आकर्षित करता था । इसीलिए विदेशी आक्रमणों में नष्ट हो गया ।

इसके अतिरिक्त व्यापारिक मार्गो द्वारा एवं केन्द्रीय सत्ता के लिए संघर्ष में राष्ट्रकूट तथा प्रतिहार शासकों के राजस्थान में आते रहने के कारण यहां की मूर्तिकला पर दक्षिण भारत रख प्रतिहार कला का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है । उदाहरण के लिए शिव की कल्याण सुन्दर, लिंगोद्भव, दक्षिणा-मूर्तियाँ एवं नटराज मूर्तियों का उल्लेख उत्तर भारत एवं राजस्थान के शिल्प ग्रन्थों में नहीं मिलता है परन्तु इस प्रकार की शैव मूर्तियां भरतपुर, सीकर, बाडोली (कोटा) झालरापाटन आदि स्थानों से प्राप्त हुई है । लिंगोद्भव तथा कल्याण-सुन्दर (शिव-विवाह) की मूर्तियाँ अब राजपूताना संग्रहालय में है तथा नटराज एवं वीणाधर -दक्षिणामूर्ति झालावाड़ संग्रहालय, झालरापाटन के सूर्य मंदिर तथा बाडोली के घाटेश्वर मन्दिर में मिलती है । व्यापारिक मार्ग भी इन प्रभावों के लिए महत्वपूर्ण कारण है । राजस्थान में सीमान्त प्रदेश, सिन्धु, दिल्ली, गुजरात, दक्षिण भारत के व्यापारी आते जाते रहते थे जिनके माध्यम से शिल्पियों के वैचारिक आदान प्रदान का ही परिणाम यह मूर्तियां हैं ।

इसके साथ ही राजनैतिक स्थिरता तथा राज्याश्रय भी मूर्तिकला के विकास में प्रभावी कारण सिद्ध होता है । अत : किसी क्षेत्र तथा काल की मूर्तिकला परम्परा का अध्ययन इस प्रकार की पृष्ठभूमि में ही करना उपयुक्त होगा । राजस्थान में मन्दिरों का निर्माण उस क्षेत्र में अधिक दिखाई पड़ता है जहां पाषाण सरलता से उपलब्ध होता है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण राजस्थान का सर्वेक्षण करने पर मेवाड़, सिरोही, डूंगरपुर, बासवाड़ा, प्रतापगढ़, हाडौती की तुलना में मारवाड़, जयपुर, अलवर व भरतपुर में मन्दिरों की संख्या अपेक्षाकृत कम तथा जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर में और भी कम है ।

राजाओं के आश्रय में विकसित होने के कारण मूर्तिकला पर उनके धार्मिक विश्वासों एवं धार्मिक सहिष्णुता का प्रभाव भी दृष्टिगत होता है । प्रतिहार शासकों में वत्सराज परमशैव था, नागभट्ट, भोज और महेन्द्रपाल परमभगवती भक्त थे, तथा राजभद्र और महीपाल सूर्योपासक थे । अपने सम्प्रदायों में श्रद्धा के बाद भी इन शासकों ने सभी धर्मों को समान रूप से राज्याश्रय प्रदान किया । अत : हिन्दू धर्म के साथ -साथ जैन मन्दिरों का निर्माण एवं संरक्षण भी इन शासकों द्वारा किया गया । राजस्थान में गुर्जर -प्रतिहार शासकों के अतिरिक्त शाकम्भरी के चौहान, राज्यपुर (अलवर) के बड़गूजर, मेदपाट के गुहिल पुत्र, सिसोदिया आदि शासकों के धार्मिक विश्वासों एवं सहिष्णुता ने मूर्तिकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया । धर्मों का प्रभाव एवं लोकप्रियता का भी उस क्षेत्र की कला पर विशेष प्रभाव पड़ता है । राजस्थान के इतिहास प्रारम्भिक काल में वैष्णव धर्म एवं बौद्ध धर्म का प्रभाव था अत : सबसे प्राचीन मन्दिर एवं मूर्तियां इन्हीं धर्मों से सम्बद्ध प्राप्त होती हैं । बौद्ध धर्म के स्कूप एवं विहार के अवशेष बैराट, एवं बंजारों की छत्री (लाल सोट) से मिलती है।

15.04 मूर्तिकला का वर्गीकरण :

मूर्तियों का वर्गीकरण माध्यम के आधार पर चार श्रेणियों में किया जा सकता है । (1) पकाई हुई मिट्टी की मूर्तियां(टेराकोटा), (2) काष्ठ की मूर्तियाँ, (3) पाषाण मूर्तियाँ, (4) धातु मूर्तियाँ । आहड़, घग्घर घाटी, बैराठ, नगरी आदि में उत्खनन द्वारा प्रकाश में आई सभ्यता से राजस्थान में मूर्तिकला

की परम्परा का प्रारम्भ भी सिन्धु घाटी के समकालीन, आज से लगभग 4500 वर्ष पूर्व हो गया है। राजस्थान के पुरावशेषों के अध्ययन से यह प्रमाणित जानकारी मिलती है कि राजस्थान के प्रागैतिहासिक युग के व्यक्ति को मिट्टी, चीनी मिट्टी तथा धातु कार्य द्वारा मूर्ति निर्माण की कला का ज्ञान था । सामान्यत : मूर्तियाँ मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण तथा धातु की बनाई जाती थी । काष्ठ का माध्यम स्थायी न होने के कारण प्राचीन अवशेषों में काष्ठ मूर्तियाँ प्राप्त नहीं होतीं, जबकि पकाई हुई मिट्टी, पाषाण तथा धातु की अनेकानेक मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं । पकाई हुई मिट्टी या टेराकोटा की मूर्ति परम्परा पाषाण एवं धातु मूर्तियों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय तथा जन सामान्य के अधिक निकट होती हैं । इस माध्यम में शास्त्रीय अभिव्यक्ति की अपेक्षा लोक जीवन की अभिव्यक्ति मिलती है । जबकि पाषाण व धातु मूर्तियाँ समाज के आभिजात्य वर्ग की रुचियों एवं संस्कृति को अभिव्यक्त करती हैं । सम्पूर्ण मूर्तिकला में टेराकोटा तथा धातु का माध्यम ही ऐसा है जिसमें अधिकांश मूर्तियाँ चारों ओर से कोर कर स्वतंत्र रूप से बनती हैं । जबकि पाषाण में मूर्ति का स्वरूप तथा आकार वास्तु पर निर्भर रहता है । मंदिर या प्रासाद के जिस भाग पर मूर्ति उत्कीर्ण होती हैं उसके अनुसार ही कलाकार अपनी अभिव्यक्ति का स्वरूप निश्चित करता है ।

15.4.1 टेराकोटा मूर्तियाँ

टेराकोटा मूर्तियों के सबसे प्राचीन उदाहरण नगरी, बैराठ, रायगढ़, रंगमहल, साभर तथा अन्य पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त होते हैं । सभी उत्खनन स्थानों से जो टेराकोटा सामग्री प्राप्त हुई है उसे अध्ययन की सुविधा के लिए दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है । (1) धार्मिक पूजा की वस्तुएँ - देवी देवताओं की मूर्तियाँ या प्रतीक, तथा (2) धर्म निरपेक्ष वस्तुएँ- खिलौने, मानव व पशु मूर्तियां, दैनिक जीवन के उपयोग की वस्तुएँ, जैसे झामे, कर्णाभूषण, दान के पात्र, विविध आकृतियों एवं आकारों के पात्र आदि । इन टेराकोटा आकृतियों का प्रमुख उद्देश्य पूजार्थ, घरों में उपयोग एवं अलंकरण तथा बच्चों का मनोरंजन था । इनके अध्ययन से समाज के सांस्कृतिक विकास का ज्ञान होता है । राजस्थान में आहड़, घग्घर घाटी, सांभर रेढ आदि टेराकोटा मूर्तियों के प्रमुख केन्द्र थे क्योंकि नदियों के किनारे बसे होने से वह मिट्टी की सुलभता थी ।

मृत्तिका मूर्तियों में तीन प्रकार की टेकनीक का प्रयोग होता है । (1) सम्पूर्ण मूर्ति कलाकार द्वारा बिना यान्त्रिक सहायता के हाथ से बनाई जाती है, (2) वे मूर्तियाँ जो सांचों द्वारा निर्मित होती हैं, तथा (3) वे मूर्तियॉ जो सांचे तथा हाथ का मिला जुला कार्य होती हैं । सांचों का उपयोग केवल मुखाकृति तथा शरीर का आगे का भाग बनाने में ही किया गया है । मूर्ति का पृष्ठ भाग या तो सपाट छोड दिया जाता था अथवा हाथ से बनाया जाता था । आभूषण तथा नाक, आँख, कान, आदि बनाने में एप्लीक विधि का प्रयोग किया जाता था । राजस्थान के मूर्तिकार मृत्तिका मूर्ति की सभी विधियों से परिचित थे ।

घग्घर घाटी क्षेत्र में हनुमान गढ़ से बहावलपुर तक जिन स्थानों पर उत्खनन हुआ उनसे प्राप्त लाल रंग की मृत्तिका मूर्तियाँ बीकानेर संग्रहालय में डॉ. टेसीटोरी द्वारा संरक्षित की गई हैं । इन मूर्तियों में शैव एवं वैष्णव दोनों प्रकार की मूर्तियाँ हैं । कृष्ण की बाल-लीला के दृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें वेशभूषा तथा मुखाकृति के अंकन में लोक कला का प्रभाव दिखाई पड़ता है । यहां से कृष्ण-लीला, उमा-माहेश्वर, महिषमर्दिनी और कुछ अन्य लोक देवताओं की मूर्तियाँ, अर्धचित्र शैली में

प्राप्त हुई हैं । इनके अतिरिक्त एक कटोरे जैसा पात्र है जिसके किनारे पर मानव शीर्ष बना है जो अत्यन्त यथार्थवादी है । मुखाकृति कुषाण तथा सासानियन तत्वों को प्रदर्शित करती है ।

आहड़ - मेवाड़ क्षेत्र में आहड़ की सभ्यता लगभग 4000 वर्ष प्राचीन है । यहां से पकाई मिट्टी की वस्तुओं में खिलौने, दैनिक उपयोग की वस्तुएँ तथा मानवाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं । हाथी, लम्बे धड़ वाले बैल जिनके मुंह में छेद तथा पूंछ एप्लीक पद्धति से बनी है । खड़ी हुई स्त्री आकृति के हाथ पार्श्व में फैले तथा चूड़ियों से भरे हुए हैं गले में मनकों की माला । पहने हुए तथा निचला भाग लहंगे से ढका हुआ बनाया गया है ।

सांभर : - सांभर से प्राप्त अन्य सामग्री यद्यपि पहली दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व की है, परन्तु टेराकोटा मूर्तियाँ आधिकांशत: तृतीय शताब्दी की पूर्व -गुप्त शैली की हैं । उड़ते हुए गन्धर्व, खड़ी हुई पुरुष की आकृति जिसका सिर सांचे द्वारा बनाया गया है, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । यह आकृति सम्भवत: शिव की है क्योंकि गले में सर्प माला एवं हाथ में डमरू लिए हैं । इन टेराकोटा मूर्तियों में कुछ चारों ओर से काट कर स्वतंत्र बनी हैं तथा कुछ फलक पर उत्कीर्ण हैं । इनमें उमामाहेश्वर, महिषमर्दिनी, यक्षिणी, हाथी, ककुदयुक्त बैल तथा खिलौने भी हैं ।

बैराट : - बैराट से प्राप्त टेराकोटा मूर्तियाँ तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व की जिनमें सलेटी या लाल मिट्टी का प्रयोग किया गया है । इन मूर्तियों में यक्षिणी मूर्ति जो नृत्य करती हुई है परन्तु उसका सिर तथा पैर टूट गये हैं । बायां हाथ कमर पर रखे हैं । कमर पर तीन लड़ की करधनी पहने हैं । इसके अतिरिक्त सारी आकृति नग्न है । यह स्वरूप प्रारम्भिक मातृदेवी की मूर्तियों का था, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से बहुतायात से मिली हैं ।

नगर - टोंक जिले में नगर के उत्खनन से चाक मिट्टी से बनी महिषमर्दिनी की आकृति तथा साँभर के उत्खनन से प्राप्त स्त्री आकृति हाथ से बनायी गई मिट्टी की मूर्ति है । इनमें नुकीले औजार से खरोंच कर भी अंकन किया गया है।

नगरी : - चित्तौड़ के पास स्थित नगरी से ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी का अभिलेख यह प्रमाणित करता है कि यहां वासुदेव संकर्षण की पूजा होती थी तथा इस स्थान का नाम नारायण वाटिका था । परन्तु यहां से टेरोकोटा की मूर्तियाँ पांचवीं शताब्दी की ही प्राप्त हुई हैं ।यहां से सांचे में ढालकर बनाई गई (13" x 9" x 2 1/2") आधार की ईटें जिन पर बाहरी ओर आलंकारिक डिजाइन बने हुए हैं । कुछ पर उड़ते हुए पक्षी, हंस, कबूतर आदि विभिन्न मुद्राओं में दाना चुगते हुए, पंख फैलाते हुए, अंगड़ाई लेते हुए, अपने पंख साफ करते हुए उत्कीर्ण हैं । ये इटें एक पंक्ति में लगाई गई होंगी । कुछ ईंटों पर मानव सिर भी उत्कीर्ण हैं, जो युगल रूप में हैं तथा हंसता हुआ प्रसन्नता का प्राकृतिक भाव अभिव्यक्त करते हैं । इनमें पुरुष मुख प्रौढ़ तथा स्त्री मुख युवती का दिखाई पड़ता है । ये सभी ईटें लाल पकाई हुई मिट्टी की हैं, जिस पर काली पालिश है । संस्कृत नाटकों में प्रहसन और भाण नाटकों के पात्रों का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतीत होते हैं । कुछ आलंकारिक टाइलों पर कमल के फूल, कली तथा पत्तों का अंकन है । मृतिका मूर्तियों की परम्परा लोक कला के रूप में अभी भी विद्यमान है। नाथद्वारा के पास भोलेला ग्राम में अनेकों परिवार मिट्टी के धर्मराज, अम्बामाता, गणेश, भैंरू आदि की मूर्तियाँ बनाते हैं, खिलौने तथा लोक कथाओं का चित्रण भी करते हैं ।

पाषाण मूर्तिकला :

पारम्परिक मूर्तिकला के स्रोत तथा प्रारम्भिक स्वरूप के सूत्र हमें टेराकोटा की इस लोक कला से ही प्राप्त होते हैं । राजस्थान की प्रारंभिक पाषाण मूर्तियों में यक्ष -यक्षिणी आदि लोक देवी देवताओं की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं । भारत की प्रारम्भिक मूर्तिकला में यक्ष प्रतिमाओं के स्वरूप का कई विद्वानों ने अध्ययन किया है, जिनमें श्री वासुदेव शरण अग्रवाल एवं आनद कुमार स्वामी का कार्य महत्वपूर्ण है । पटना (बिहार), मथुरा (उत्तर प्रदेश) एवं बेसनगर (मध्य प्रदेश) से ईसा की पहली दूसरी शताब्दियों की अनेक यक्ष प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं । ये सभी प्रतिमाएं सामान्य से अधिक ऊँची लगभग 5' से 8' के मध्य, भारी - भरकम, बलिष्ठ एवं तुन्दिल, ग्रामीण वेशभूषा धारण किए, अधिकार एवं रक्षा करने का भाव लिए हुए ग्राम देवता के रूप में पूजान्तर्गत भी हैं तथा भग्न होने पर उपेक्षित रूप में भी प्राप्त होती हैं । राजस्थान में भतरपुर क्षेत्र से लगभग आधा दर्जन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । यह समपाद स्थानक ढंग से खड़ी हुई, हाथ में दण्ड या कोई वस्तु लिए हुए अपूर्व शारीरिक शक्ति की प्रतीक हैं जो ग्रामीणों को भय एवं आपत्तियों से अभय प्रदान करती हैं । भारी मोटे-मोटे आभूषण, मोटी फुग्गेदार गांठ वाली पगड़ी, चार लड़ी माला, कान में मोटे लटकने वाले आभूषण, नंगे पैर, शरीर पर निचले भाग में धोती सिर पर पण धारण किए नोह ग्राम से प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व की यक्ष प्रतिमा अभी भी जखैया नाम से पूजान्तर्गन । वीरावई गांव से प्राप्त लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी की शुंगकालीन मूर्तियों की विशेषताओं से युक्त यक्ष प्रतिमा का धड़ है, जिसकी कमर पट्टे में तलवार बंधी है, तथा दांया हाथ कमर पर आक्रमण के लिए तैयार मुद्रा में दिखाई पड़ता है । इन प्रतिमाओं में पारम्परिक मूर्तिकला की शास्त्रीयता का अभाव है । अत : इन्हें मूर्तिकला की वह अवस्था कहना उपयुक्त प्रतीत होता है जब वह लोक कला के अधिक निकट है । लोककला से ही शास्त्रीय कला का जन्म होता है । जब तक किसी कला में अभिव्यक्ति स्वतंत्र होती है, उसकी टेकनीक तथा तत्वों की व्याकरण सुनिश्चित नहीं होती, अभिव्यिक्त सहज होती है तो उसे लोक कला कहां जाता है । धीरे - धीरे अभिव्यक्ति के नियम एवं टेकनीक के बन्धनों से सुसंस्कृत होने पर वह कलाकृति शास्त्रीय स्वरूप ग्रहण कर लेती है । अत : शास्त्रीय कला का पूर्व रूप लोक कला में देखने को मिलता है । "

पाषाण मूर्तियों में चारों ओर से कोर कर बनाई गई कुछ स्वतंत्र मूर्तियों को छोड़ कर अधिकांश मूर्तिकला वास्तुकला के अंग के रूप में ही विकसित हुई है । इसका तात्पर्य यह है कि भवन, देवालय, छतरी, बावड़ी, राजप्रासाद आदि में ही मूर्तियों का निर्माण हुआ है तथा सभी स्थितियों में वास्तु का प्रकार, स्थान तथा प्रयुक्त पाषाण के आकार के अनुसार ही मूर्ति का आकार तथा विषय वस्तु निर्धारित होती है । प्रमुख रूप से देवालय ही मूर्तिकला के भंडार है ।

राजस्थान की मूर्तिकला की परम्परा की विषय-वस्तु, शैली, एवं स्वरूप अधिकांश में गुजरात, मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के समान है क्योंकि प्राचीन एवं मध्य काल में राजस्थान जिस सांस्कृतिक इकाई का अंग था उसी के अन्य अंग मध्य प्रदेश, गुजरात तथा उत्तर प्रदेश भी थे । देवालयों का सर्वेक्षण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि राजस्थान में वैष्णव, शैव और जैन धर्म प्रमुख रूप से प्रचलित थे । शैवधर्म प्रमुखत: कोटा, झालावाड़, बिजौलियाँ, सीकर, अलवर और भरतपुर में, वैष्णव धर्म मारवाड़, मेवाड़, (चित्तौड़, नागदा, आहड़ आदि) में प्रचलित था । दूसरे भागों में सौर पूजा तथा शक्ति पूजा भी प्रचलित थी । ग्यारहवीं शताब्दी के बाद सूर्य पूजा का विलय वैष्णव धर्म में हाने के साथ ही सिरोही क्षेत्र में शैव मन्दिर लक्ष्मीनारायण के वैष्णव मन्दिरों में परिवर्तित हो गये । जैन धर्म की बढ़ती हुई

लोकप्रियता के कारण जैन मन्दिरों का निर्माण भी उन्हीं स्थानों पर हुआ जहां पहले से शैव तथा वैष्णव धर्म के मंदिर थे, जैसे-ओसियां, पड़ानगर (अलवर), चित्तौड़, आहड़, रणकपुर, आबू घानेराव आदि । बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल विराटनगर, झालावाड़ तथा चित्तौड़गढ़ में ही दिखाई पड़ता है । विराटनगर से ईस्वी पूर्व तृतीय शताब्दी के विहार स्तूप मंदिर आदि के अवशेष प्राप्त हुए हैं ।

वैष्णव मूर्तियाँ : - विष्णु की पूजा का प्रमुख केन्द्र मेवाड़ था । वैष्णव मूर्तियों में प्रमुख रूप से विष्णु की शेषशायी, योगीश्वर एवं दशावतारों की मूर्तियाँ बनी हैं । विष्णु के दशावतारों में वराह, त्रिविक्रम और नरसिंह मुख्य रूप से मंदिरों के गर्भ गृह या अधिष्ठान की बाह्य भित्ति पर प्रवेश की दिशा छोड़ कर अन्य तीन दिशाओं में उत्कीर्ण किये जाते थे । झालावाड़ और कोटा क्षेत्र से वैकुण्ठ या विश्वरूप विष्णु की प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं । वैकुण्ठ मूर्ति में विष्णु के साथ ही वराह और सिंह का मुख भी उत्कीर्ण रहता है । अन्य अवतारों में राम, परशुराम, बुद्ध और कल्कि की स्वतंत्र मूर्तियां नहीं बनी हैं । यद्यपि इन अवतारों की पूर्ण उपेक्षा नहीं की गई है, परन्तु इनका अंकन केवल रूढ़ रूप में दशावतार फलकों पर ही किया गया है । दशावतार फलक मंदिर में गर्भ गृह के प्रवेश द्वार पर ललाट पट्टिका अथवा द्वार शाखाओं पर उत्कीर्ण किये जाते थे ।

सबसे प्राचीन वैष्णव मूर्तियों में वासुदेव एवं संकर्षण की वे मूर्तियाँ जानी जाती हैं जिनका उल्लेख मात्र घोसुण्डी- नगरी के दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व के अभिलेख से मिलता है । प्रारंभिक काल में विष्णु के दशावतारों का ही चित्रण किया जाता था, यद्यपि मूर्तिकला के शिल्प ग्रन्थों में विष्णु की 24 व्यूह मूर्तियों का उल्लेख भी है । इन मूर्तियों की पहचान उनके चारों आयुधों के क्रम के अनुसार होती थी। दक्षिणाधः दक्षिणोर्ध्व, वामोर्ध्व, वामाधः में क्रम से शंख, चक्र, गदा, पद्म के परिवर्तन से जनार्दन, अधीक्षक आदि 24 व्यूहों की कल्पना की गई है **। रूप मण्डन तथा देवतामूर्ति प्रकरण** में इन रूपों का उल्लेख मिलता है जो पन्द्रहवीं शताब्दी की रचनाएं हैं ।

विष्णु के दशावतारों की मूर्तियाँ तीन प्रकार की प्राप्त होती हैं - (अ) पशु मूर्तियाँ, (ब) पशु -मानव का मिश्रित रूप एवं (स) मानव रूप । इनका अंकन दो प्रकारों में प्राप्त होता है । प्रथम, दशावतार फलकों पर पंक्तिबद्ध रूढ़ रूप में मन्दिर के द्वार स्तम्भों, द्वार-लिन्टेल (डाट) तथा विष्णु मूर्तियों की प्रभावली पर इनमें मत्स्य तथा कच्छप पशुरूप में कमल पत्र पर, वराह, नरसिंह मिश्रित रूप में वामन-त्रिविक्रम वामन रूप में तथा अन्य मानव रूप में उत्कीर्ण किये जाते हैं । द्वितीय प्रकार में दशावतारों का पृथक् -पृथक् स्वतंत्र रूप में या पौराणिक कथा रूपों में अंकन मिलता है । यह मूर्तियों गर्भगृह की बाह्य भित्तियों पर रथिका में प्रतिष्ठित रहती हैं । इन मूर्तियों के अंकन में राजस्थान के शिल्पी ने शिल्प ग्रन्थों के लक्षणों के स्थान पर पौराणिक कथाओं को अधिक महत्व दिया है । जैसे - नरसिंह अवतार में नरसिंह और हिरण्यकशिपु का मल्ल युद्ध, वामन के साथ बलि और त्रिविक्रम रूप में विष्णु पृथ्वी नापते हुए, राम तथा कृष्ण का पूरा चरित अंकित करना आदि । मत्स्य तथा कच्छप अवतारों में भी नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए कल्पलता पर रखे मत्स्य और कच्छप के रूप में कल्पित कर उसके आयुध पुरुषों का अंकन भी किया है । आहड़ सग्रहालय में इस प्रकार की दो प्रतिमाएँ हैं जो अल्लट द्वारा वि.स. 1010 में निर्मित आदिवराह मन्दिर का अंग थी । पौराणिक कथाओं में अधिक रूझान कूर्मावतार की मूर्तियों में भी दिखाई पड़ता है । इन मूर्तियों में समुद्र मन्थन की पूरी कक्षा का चित्रण किया गया है। कालिकामाता मन्दिर चित्तौड़ (आठवीं शती ईस्वी) में उत्कीर्ण समुद्र मन्थन सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है । यहां कछुए की पीठ पर एक घट में समुद्र की कल्पना कर देव-

असुर गण मन्थन कर रहे हैं । मन्दर पर्वत दण्ड के रूप में घड़े में रखा गया है तथा लक्ष्मी इस दण्ड के ऊपर विराजमान है । समुद्र कथन के इस प्रकार के अंकन अम्बिकामाता मंदिर जगत (उदयपुर) और सोमेश्वर मंदिर किराडू से भी मिले हैं । वराह अवतार का अंकन पशु मूर्ति के रूप में चन्द्रभागा (10 वीं शताब्दी) तथा नागदा (12 वीं शताब्दी) से प्राप्त हुआ है । वराह की मिश्रित मूर्तियों में सिर वराह का तथा शरीर मानव का होता परम्पराओं है । इस रूप में वराह अवतार की मूर्ति प्राय : सभी वैष्णव मंदिरों में प्राप्त होती हैं। मानव अवतारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वामन-त्रिविक्रम अवतार है, क्योकि इसकी विषय -वस्तु अत्यन्त नाटकीय । इन मूर्तियों में वामन को दो हाथ वाले, छत्र, दण्ड लिए सामान्य ब्रह्मचारी के रूप में उत्कीर्ण किया गया है और त्रिविक्रम को भी साथ में ही एक पैर उठाये पृथ्वी को नापते हुए बनाया जाता है । इस प्रकार पूरी कथा को एक ही फलक पर उत्कीर्ण किया गया है । केवल मात्र वामन रूप में भी इस अवतार को अंकित किया है, जिसके उदाहरण बाड़ोली (कोटा) तथा जयपुर संग्रहालय से प्राप्त होते हैं । त्रिविक्रम रूप के उदाहरण ओसियां के हरिहर मंदिरों में देखने को मिलते है ।

मानव अवतारों में राम एवं कृष्ण अवतारों का अंकन भी कथा रूप में लम्बी पैनलों पर क्रमिक रूप से किया गया है । इन अवतारों का अंकन प्रमुख स्थानों पर न करके मंदिरों के जंघा भाग तथा शिखर के जोड़ पर लम्बी पैनल में स्तम्भों, छज्जों, समतल छतों के शीर्ष पट्टों पर अन्दर की ओर मिलता है । राम कथा का चित्र वाल्मीकीय रामायण के आधार पर दधिमती माता मंदिर, गोठ मांगलोद, नागौर, शैव देवालय, केकीन्द (नागौर), नागदा (उदयपुर) सोमेश्वर मंदिर किराडू बाड़मेर में विस्तार से मिलता है । इनमें राम लक्ष्मण सीता के वनगमन से प्रारम्भ कर लंका विजय तक की घटनाओं का चित्रण है । इन मूर्तियों में आकार अत्यन्त छोटा है यद्यपि मूर्तियों का सौष्ठव तथा संयोजन अत्यन्त सुन्दर है । इसी प्रकार कृष्ण अवतार का अंकन भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के अनुसार किया गया है । इन फलकों में कृष्ण के बाल स्वरूप एवं किशोर अवस्था तक की घटनाओं का ही अंकन प्राप्त होता है । कृष्ण जन्म, पूतना, शकट, अरिष्ट तथा केशी आदि का वध, यमलार्जुन, तालवन, गोवर्धन धारण, कालिय दमन तथा मथुरा आगमन एवं कस वध तक की घटनाएं ही प्रमुख रूप से उत्कीर्ण की गई है । इन फलकों के माध्यम से ग्रामीण लोक जीवन को भी शिल्पियों ने अंकित किया है । वैसे तो कृष्ण कथा अधिकांश वैष्णव तथा शैव मंदिरों में मिलती हैं, परन्तु मै डोर के स्तम्भ (चौथी शताब्दी ई.) हरिहर मंदिर, ओसियां (आठवीं शताब्दी) सोमेश्वर मंदिर किराडू, (12वीं शताब्दी) के मूर्ति फलक सबसे महत्वपूर्ण है । इनके अतिरिक्त अटरू केकीन्द आहड़, और आबानेरी के मूर्तिफलकों में भी कृष्ण लीला का चित्रण है । इन मूर्तियों की विशेषता यह है कि राम एवं कृष्ण मानव रूप में ही अंकित हैं न कि वैष्णव अवतारों के दिव्य रूप में ।

शैव मूर्तियाँ :- प्रारम्भिक शैव मूर्तियाँ अधिकांश में लिंग रूप में प्राप्त होती हैं क्योंकि शिव की पूजा सिन्धुघाटी सभ्यता में लिंग रूप में प्रचलित थी । कालान्तर में लिए प्रतीकों के साथ मानव रूप को जोड़ कर मुखलिंगो की संकल्पना हुई और उसके पश्चात् पूर्ण मानव रूप में शिव की कल्पना की गई । कई बार मुख लिंगों में शिव मुखों के स्थान पर ब्रह्मा, सूर्य, रूद्र आदि के मुख भी बनने लगे । मुख -लिंग शिव प्रतिमा के विकास की दूसरी अवस्था है, जिसमें साकार तथा निराकार का समन्वय होता है । मुखलिंगों में मुखों की संख्या एक से पाँच तक पाई जाती है, परन्तु इसमें त्रिमूर्ति तथा चतुर्मुख

लिंग ही अधिक लोकप्रिय हैं । इस प्रकार के शिव लिंग कंसुआ (कोटा), भंडदेवरा रामगढ़, समिधेश्वर (चित्तौड़) तथा त्रिमूर्ति का उदाहरण बाडोली के शिवमंदिर से प्राप्त होता है ।

शिव की शान्त प्रकृति पालक तथा भयानक सृष्टि -संहारक स्वरूप की प्रतिमाओं में नटराज, योगीश्वर, त्रिपुरान्तक, कल्याण सुन्दर, उमामाहेश्वर आदि रूप मूर्ति कला में प्राप्त होते हैं । यह मूर्तियां मंदिर की बाह्य भित्ति पर उत्कीर्ण हैं । ये मूर्तियां अधिकतर शैवधर्म के केन्द्रों-कोटा, झालावाड़, सीकर, पड़ानगढ़ (अलवर) और भरतपुर के मंदिरों से प्राप्त होती है । शैव मूर्तियों के अंकन में भी पौराणिक कथाओं का चुनाव नाटकीयता के कारण किया गया है । अत : लिंगोद्भव, विवाहमूर्ति, अर्धनारीश्वर, रावण - अनुग्रह और नटराज की मूर्तियाँ अधिक लोकप्रिय हुई है ।

शैव मूर्तियों में सबसे अधिक लोकप्रिय मूर्ति उमामाहेश्वर की हैं । उमामाहेश्वर की मूर्तियाँ 7वीं - 8वीं शताब्दी से मिलती हैं । यह मूर्तियाँ नागदा, आहड़, कल्याणपुर, बघेरा, अलवर आदि स्थानों से प्राप्त हुईहैं । विष्णुधर्मोत्तर पुराण तथा रूपमण्डन के आधार पर दसवीं शताब्दी तथा बाद की प्रतिमाएं निर्मित की गई । उमामाहेश्वर मूर्तियाँ राजपूताना संग्रहालय अजमेर, प्रताप म्यूजियम उदयपुर तथा अलवर संग्रहालय में सुरक्षित हैं । शिव का एक अन्य रूप ज्ञान, योग, संगीत तथा नृत्य के शिक्षक का रूप है जिसे दक्षिणमूर्ति कहां जाता है । राजस्थान की मूर्तियों में नृत्य एवं संगीत का पक्ष एक ही मूर्ति में प्रस्तुत किया गया है । इन मूर्तियों में वीणा वादन एवं नृत्य मुद्रा एक साथ प्रदर्शित की जाती है, जबकि दक्षिण भारत में यह दोनों स्वरूप पृथक-पृथक प्रदर्शित किये जाते हैं ।

शिव की नृत्यमूर्तियों में शिव के सहारक एवं अभयप्रद दोनों स्वरूपों को प्रस्तुत किया गया है । यह मूर्तियाँ नाट्य शास्त्र के अनुसार उत्कीर्ण हैं । इन मूर्तियों में चतुर, ललित, कटिसम, ऊर्ध्वजानु, प्रत्यालीढ़, एलकक्रीडित, आदि कारण अधिक उत्कीर्ण हुए हैं । बाडोली (कोटा), रामगढ़ (कोटा) और हर्षगिरि (सीकर) के मंदिर नटराज शिव को समर्पित हैं । आबानेरी, हर्षनाथ (सीकर), झालरापाटन, चन्द्रभागा, पड़ानगर (अलवर) और मेनाल (भीलवाड़ा) से शिव की नृत्य दक्षिणा. एवं मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं ।

इनके अतिरिक्त पाशुपत संप्रदाय की शिव मूर्तियाँ, जो लकुलीश नाम से जानी जाती हैं, कन्सुआ, एकलिंग कालिकामाता मंदिर (चित्तौड़) तथा पालड़ी और अर्थूणा से प्राप्त होती हैं ।

शाक्त मूर्तियाँ : - वैष्णव तथा शैव मूर्तियों के अतिरिक्त तीसरा समूह शाक्त मूर्तियों का है। मातृपूजा का उदभव केवल ब्राह्मण धर्म की परम्परा ही नहीं थी अपितु जैन तथा बौद्ध धर्म में भी मातृका पूजा की परम्परा थी । दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती के विग्रह सभी धर्मों में पूज्य थे । कुछ देवियों के स्वरूप थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अन्य धर्मों में पूज्य थे । कुछ देवियों के स्वरूप को थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अन्य धर्मो में भी सम्मिलित कर लिया है । महिषमर्दिनी जैन मतावलम्बियों द्वारा सच्चिका के रूप में पूजित होती है । 12 वीं शताब्दी में सचिया माता का मंदिर ओसियां में महिषमर्दिनी के ही परिवर्तित रूप का उदाहरण है । मंदिर के गर्भगृह में अभी भी बाह्य भित्ति पर चण्डिका देवी की मूर्ति विद्यमान है । यहां हिन्दू तथा जैन समुदाय के लोग अभी भी पूजा के लिए जाते हैं ।

महिषमर्दिनी की सबसे प्राचीन मूर्ति नगर के उत्खनन से प्राप्त हुई है जो प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व की है । शक्ति की मूर्तियाँ सामान्यत: तीन श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं । (1) भयानक रूप में असुरों का संहार करते हुए मूर्तियों जैसे - महिषमर्दिनी, चण्डिका, चामुण्डा सप्तमातृका आदि

(2) कल्याणकारी रूप-क्षेमकरी, सरस्वती, लक्ष्मी, गज लक्ष्मी, दुर्गा, आदि (3) प्रत्येक देवता की शक्ति के रूप में जैसे वैनायकी, ऐन्द्री, आदि । राजस्थान में शक्ति के महिषमर्दिनी रूप की पूजा स्वतंत्र रूप से अनेक मंदिरों में हुई है, जगत (उदयपुर) का अम्बिका माता मंदिर, उनवास (उदयपुर) का पिप्पलाद माता का मंदिर इसी स्वरूप को समर्पित थे । महिषमर्दिनी की मूर्तियों का अंकन देवी माहात्क्यम तथा देवी भागवत के अनुसार किया गया है । राजस्थान में इस कथा का निरूपण मूर्तियों में तीन प्रकार से किया गया है । (1) वे मूर्तियाँ जिसमें देवी महिष पर प्रहार कर रही है । ये मूर्तियाँ बाडोली, झालावाड़. और जगत के मंदिरों में है । (2) अधिक लोकप्रिय वे मूर्तियाँ हैं जिनमें महिष के कटे हुए सिर से मानव रूप में अर्धनिष्क्रान्त असुर भी दिखाया जाता है । ये मूर्तियाँ आबानेरी, ओसियां, झालावाड़, सीकर और जोधपुर के मंदिरों में मिलती हैं । (3) वे मूर्तियाँ जिनमें महिषासुर मानव रूप में देवी से युद्ध करता हुआ अंकित है । ये मूर्तियाँ जगत तथा मेनाल एवं शैव मंदिर में उत्कीर्ण है ।

इनके अतिरिक्त सप्त मातृकाओं के समूह तथा अन्य सभी देवताओं की शक्ति रूप में देवियों की कल्पना उन्हीं देवताओं के वाहन एवं स्वरूप के अनुसार की गई है ।

सूर्य मूर्तियों : - सूर्य पूजा की परम्परा यद्यपि वैदिक काल से चली आ रही है परन्तु प्राकृतिक सूर्य देव की मूर्त कल्पना पर ईरानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है । ईरानी प्रभाव को आत्मसात करते हुए सूर्य देव की मूर्तियों में भारतीय एवं ईरानी तत्वों का मिश्रित रूप दिखाई पड़ता है । यही प्रभाव भारतवर्ष में लगभग 4 थी शताब्दी से दिखाई पड़ने लगता है । जिसका प्रमाण विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे वर्णित सूर्य प्रतिमा का उदीच्च वेश एवं अव्यंग है । राजस्थान में इससे पूर्वकी प्रतिमाएं नहीं मिलती। सूर्य की मूर्तियां सात घोड़ों के रथ पर आसीन दोनों हाथों में विकसित पदम लिए 8वीं - 9वीं शताब्दी में बनने लगी थी । कालिका माता, चित्तौड़गढ़, वर्माण (सिरोही), टूस (उदयपुर) और अनादरा (सिरोही) से सूर्य मंदिर एवं सूर्य मूर्तियाँ मिलती हैं । इनके अतिरिक्त खड़ी हुई सूर्य प्रतिमाएँ, जिनके आसन पर सात घोड़ों का अभिप्राय उत्कीर्ण रहता है, राजस्थान में बहुतायत से मिली हैं । राजस्थान के सिरोही राज्य में लगभग प्रत्येक गांव में एक सूर्य मंदिर का उल्लेख मिलता है । चन्द्रावती, अजारी, मूंगथला, मालागांव, सान्तपुर, रोहेडा, निटोरा, कुसमा तथा अनादरा से प्राप्त सूर्य प्रतिमाएँ इस क्षेत्र में सूर्य पूजा की लोकप्रियता के प्रमाण हैं । हाड़ौती संभाग में झालावाड़ एवं बूढादीत के सूर्य मंदिर बहुत लोकप्रिय रहे हैं ।

दसवीं शताब्दी में धार्मिक सहिष्णुता एवं पंचायतन पूजा की लोकप्रियता के कारण वैष्णव, शैव एवं सौर देवताओं की संयुक्त मूर्तियाँ भी बनने लगी थी । यह संयुक्त विग्रह कभी तो आधा - आधा विभाजित रहता था जैसे -हरिहर या अर्धनारीश्वर मूर्ति । जब दो से अधिक देवताओं को संयुक्त रूप निर्मित करना होता था तथा मूर्तिकार किसी एक देवता को प्रमुख रूप देना चाहता था, तब प्रमुख देव के शरीर में ही अन्य देवताओं के आयुध अतिरिक्त हाथों में उत्कीर्ण करता था ।इन मूर्तियों में कलाकार की कल्पना के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं । जैसे हरिहर-सूर्य पितामह, हरिहरपितामह आदि।

जैन मूर्तियों - जैन धर्म की लोकप्रियता तथा प्रसार लगभग आठवीं शताब्दी से राजस्थान में मिलता है, जिसके परिणाम स्वरूप अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ । राजस्थान के अधिकांश जैन मंदिर श्वेताम्बर संप्रदाय के हैं । जैन परम्परा के अनुसार महावीर दक्षिण पश्चिमी राजस्थान में भीनमाल, मूगथला आये थे । परन्तु सबसे प्राचीन जैन मंदिर पाली जिले । में घाणेराव तथा जोधपुर में ओसियों

में बने महावीर मंदिर हैं । इन मंदिरों में मूर्तिकला की परम्परा तथा शैली हिन्दू मंदिरों के समान है। केवल देव मूर्तियों के चुनाव में जैन तीर्थंकरों, यक्ष -यक्षिणी तथा विद्या -देवियों का अंकन किया गया है । वास्तु की अलंकरण योजना में कोई विशेष अन्तर नहीं होता था । प्रत्येक तीर्थंकर के रक्षक यक्ष तथा यक्षिणी का अंकन जैन प्रतिमा शास्त्र के अनुसार किया गया है । 10 वीं से 12 वीं शताब्दी के मध्य बने जैन अतिशय क्षेत्रों में कांमा का काम्यक गच्छ, राजौरगढ़ के पार्श्वनाथ व शान्तिनाथ के मंदिर प्रमुख हैं । राजौरंगढ़ के पार्श्वनाथ की प्रतिमा 4.95 मीटर लम्बी होने के कारण नौगजा कहलाती है। 12वीं- 13वीं शताब्दी चित्तौड़ तथा मारवाड़ के प्रमुख केंद्र थे। चित्तौड़गढ़ का कीर्तिस्तंभ तथा जैन देवालय इसी अवधि में निर्मित हुए थे । जैन स्तंभ की अलंकरण योजना में समवसरण की कल्पना को साकार किया गया है । इसके पश्चात् भी जैन धर्म के अनेक मंदिर निर्मित हुए हैं ।

धातु मूर्तियाँ : -राजस्थान में अधिकांश धातु मूर्तियाँ पीतल या मिश्रित धातु से निर्मित एवं उन पर मूर्तिकार तथा दानदाता का उल्लेख भी उत्कीर्ण रहता है । यह मूर्तियाँ स्थायित्व तथा गतिशील होने के कारण अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं । मंदिरों में शोभायात्रा आदि अवसरों पर देवता के इसी विग्रह का प्रयोग होता है । धातु को ढाल कर मूर्ति निर्माण कला का प्रादुर्भाव हड़प्पा सभ्यता से प्राप्त होता है । कालीबंगा, आहड़ आदि स्थानों से प्राप्त धातु के उपकरण राजस्थान में धातु कर्म के प्रारम्भ के प्रमाण है । सातवीं शताब्दी से राजस्थान में धातुमूर्तितयाँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होने लगती हैं । तीर्थंकर आदिनाथ की वसन्तगढ़ से प्राप्त प्रतिमा 744 वि. सं. की है । यहीं से प्राप्त सातवीं शताब्दी की सरस्वती की ताम्र प्रतिमा उत्कृष्ट धातु कर्म का उदाहरण है । जोधपुर संग्रहालय में सांचोर व परबतसर से प्राप्त मूर्तियाँ भी शैली में अकोटा (गुजरात) मूर्तियों से समानता रखती हैं । सिरोही क्षेत्र से सबसे अधिक धातु मूर्तियाँ मिलती हैं । जैन धातु मूर्तियों की पहचान, आजानुलम्बित हाथ, श्रीवत्स चिन्ह, कोमल युवा शरीर, नग्नता तथा तीर्थंकर का चिन्ह है । इसके अतिरिक्त भक्तों, दानदाताओं, गुरुओं तथा जाति के प्रमुख व्यक्तियों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं । वसन्तगढ़ से प्राप्त तिथि युक्त पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाएं वि. सं 726 तथा 756 की है तथा मूर्तिकार का नाम शिवनाग अंकित है । यहां से लगभग 700 मूर्तियाँ जैन तीर्थंकरों की मिली हैं जो 11 वीं से 16वीं शताब्दी की है । अमरसर से पन्द्रह तिथि युक्त मूर्तियाँ 10 वीं से 15 वीं शताब्दी के मध्य की प्राप्त हुई हैं जो बीकानेर संग्रहालय में सुरक्षित हैं । आबू के संग्रहालय में भी सिरोही से एकत्रित आठ प्रतिमाएँ हैं जो 13 वीं से 15वी शताब्दी की हैं । 15 वीं शताब्दी में डूंगरपुर के शिल्पी जीवन्त आकार की प्रतिमाएँ बनाते थे । अचलगढ़ (आबू) पर इन शिल्पियों की बनाई हुई 140 मन की आदिनाथ तथा कल्किअवतार की प्रतिमाएं हैं ।

अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण : -

कलात्मक अभिप्राय : देव मूर्तियों के अतिरिक्त मूर्तिकला की परम्परा के अध्ययन के लिए देव मंदिरों एवं प्रासादों में प्रयुक्त आलंकारिक अभिप्राय भी महत्त्वपूर्ण अंग है । स्तम्भों, द्वारशाखाओं तथा अधिष्ठान का अलंकरण मूर्तिकला का अभिन्न अंग है । अलंकरणों के अन्तर्गत अनेक अभिप्रायों का समावेश है । संपूर्ण प्रकृति ही इस प्रकार अनुकृत होकर अलंकृत रूप प्राप्त करती हैं ।

अधिष्ठान : - देवालयों तथा अन्य भवनों को ऊँचे अधिष्ठान पर बनाया जाता है । अधिष्ठान के चारों ओर की बाह्य भित्ति पर ग्रासपट्टिका, गजथर, अश्वथर, नरथर की पंक्तियां रहती हैं जिनमें कीर्तिमुख सवारयुक्त हाथियों व घोड़ों की पंक्तियाँ उत्कीर्ण की जाती हैं । यहां कई बार उड़ते हुए पक्षी, आपस में लड़ते हुए घोड़े, शेर, हाथी, ऊँट आदि अंकित किये जाते हैं ।

तत्पश्चात् मानव युगल, अप्सरायें, किन्नर, मिश्रित पशु, ऋषि मुनि आदि का अंकन होता है । यह मूर्तिकला का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है । जिसमें मूर्तिकार लोक जीवन के तथ्यों को अपनी रुचि के अनुसार बनाता है । प्रारम्भिक मंदिरों में नरथर सादा रहता था परन्तु 10 वीं शताब्दी के बाद अत्यन्त अलंकृत रूप में प्राप्त होता है । नागदा तथा किराडू के मंदिर इस दृष्टि से अवलोकनीय है।

स्तम्भ तथा द्वार शाखा के अलंकरण : - स्तम्भों के अलंकरण में कीर्तिमुख कमल दल, पल्लव युक्त कलश तथा अप्सरायें प्रमुख अभिप्राय हैं जिनका अंकन विविध रूपों में प्राप्त होता है । द्वारशाखाओं में दो -तीन से लेकर पाँच या सात शाखाओं के अलंकरण प्राप्त होते हैं । नीचे दोनों ओर नदी देवियों, द्वारपाल आदि की प्रतिमाएं बनती हैं उसके ऊपर नागवल्ली, पत्र शाखा, रूप शाखा, अर्ध स्तम्भ आदि के अलंकरण रहते हैं । इनमें कभी -कभी विष्णु की व्यूह मूर्तियाँ, अवतार मूर्तियाँ, सप्त मातृकाएँ, नव ग्रह, अप्सरा एवं किन्नर युगल, मालाधारी विधाधर आदि का अंकन होता है ।

इस प्रकार अर्ध चित्र शैली में संपूर्ण मंदिर का पाषाण अभिप्रायों, बेलों, पुष्प गुच्छों से युक्त रहता है । संपूर्ण शिखर, चैत्य इकाई सं. गवाक्ष, आमलक, तथा लघु शिखरों के अभिप्राय के जाल से आच्छादित रहता है, जिसकी रचना में मूर्तिकला का सौष्ठव प्रमाणित होता है । एवं इस अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि राजस्थान में मूर्तिकला की समृद्ध परम्परा 16वीं 1 7वीं शताब्दी के मंदिरों तक प्राप्त होती है । यह निरन्तर विकास शील रही परन्तु प्रारम्भिक मूर्तियों में जीवन्तता, स्वाभाविकता, यथार्थ आदि को अधिक महत्व दिया गया जबकि बाद की मूर्तियों में अलंकारिकता का प्रभाव क्रमशः बढ़ता जाता है ।

15.06 इकाई सारांश

आपने अध्ययन किया कि किस प्रकार राजस्थान क्षेत्र मूर्तिकला के क्षेत्र में समृद्ध है और इसका निर्माण काल सिन्धु- सरस्वती घाटी सभ्यता के काल से प्रारम्भ हो जाता है । प्राचीन सभ्यताओं के सभी केन्द्रों में टेराकोटा की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं । पीश्चमी राजस्थान की तुलना में पूर्वी एवं दक्षिणी राजस्थान में पाषाण मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं और इसका कारण इन क्षेत्रों में पाषाण की सहजता से उपलब्धता है । धातु मूर्तियाँ का भी प्रचलन भी प्रारम्भिक काल से दृष्टिगत होता है लेकिन सातवीं शताब्दी से इसकी संख्या अधिक हो जाती है । मूर्तियाँ शैव, वैष्णव, शाक्त के साथ-साथ जैन धर्म की भी मिलती हैं । राजस्थान में सूर्य मूर्तियों का भी अभाव नहीं है । इसके अतिरिक्त मन्दिरों की दीवारों, गर्भगृहों, शिखर के आसपास और यहां तक कि मन्दिरों के दरवाजों, स्तम्भों एवं टांडों पर भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती रही हैं । संस्कृति की परिचायक ये मूर्तियाँ दर्शकों का मन बांध लेती हैं ।

15.07 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये : -

1. राजस्थान की मूर्तिकला में मृतिका मूर्तियों की विशेषताएं एवं योगदान पर प्रकाश डालिए ।
2. यक्ष मूर्तियों की क्या विशेषताएं हैं । राजस्थान से यक्ष मूर्तियाँ किस क्षेत्र से प्राप्त होती हैं।
3. वैष्णव मूर्तियों की परम्परा एवं विशेष योगदान की विवेचना कीजिए ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 15० शब्दों में दीजिये : -

1. प्रारम्भिक मूर्तिकला परम्पराओं में लोककथा का क्या योगदान है ।

2. सूर्य मूर्तियों की विशेषताएं बतलाइये ।
3. स्तम्भ तथा द्वार शाखा के अलंकरण पर अपने विचार लिखिये ।

15.08 संदर्भ ग्रन्थ

1. दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दि एजेज, राजस्थान शासन, 1970.
2. ललित कला के अंक, 1, 2, 8, 14.
3. वी-एस. अग्रवाल, स्टडीज इन इन्डियन आर्ट, वाराणसी, 1960.
4. आनन्द कुमार स्वामी, यक्षाज.
5. नीलिमा वशिष्ठ, स्कल्पचरल ट्रैडीशन्स आफ राजस्थान, जयपुर, 1989.
6. घोष, जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, भाग 1, 2, 3 नई दिल्ली
7. हन्ना रिध, रंगमहल, स्वीडिश एक्स कवेशन रिपोर्ट, 1952-54
8. भगवानदास वर्मा, राजस्थान साहित्य संस्कृति कला, जयपुर, 1979.
9. मार्ग का अंक, 12.
10. प्रोग्रेस रिपोर्ट आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया वेस्टर्न सर्किल, (रिप्रिन्ट)

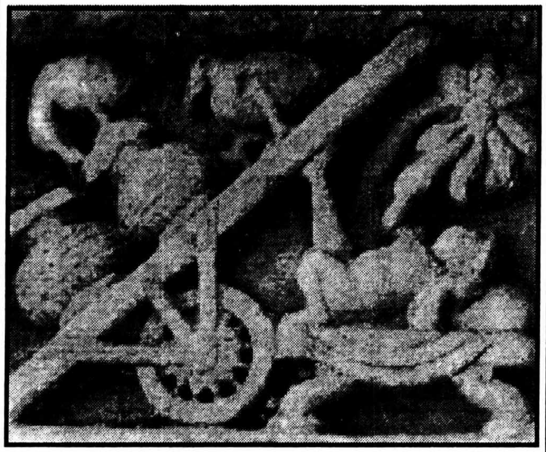

इकाई सं. 16 “आधुनिक मूर्तिकला”

इकाई संरचना

16.1 उद्देश्य
16.02 प्रस्तावना
16.03 रियासती काल में आधुनिक मूर्तिकला का विकास
16.04 आदमकद मूर्तियों की स्थापना
16.05 जयपुर एवं मूर्तिकला
16.06 राजस्थान के पारम्परिक मूर्तिकार
16.07 प्रयोगवादी आधुनिक चित्रकला
16.08 मूर्तिकला के माध्यम एवं प्रविधियाँ
16.09 इकाई सारांश
16.10 अभ्यासर्थ प्रश्न

16.01 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको भारतीय मूर्तिकला के संदर्भ में आधुनिक युग में राजस्थान की मूर्तिकला के विकास की प्रमुख धाराओं, माध्यमों एवं शैली के आधार पर इसका परिचय कराना है । आधुनिक युग का प्रारम्भ, समय -सीमा एवं क्षेत्र का परिचय देते हुए नवीन विधाओं एवं परम्पराओं का मिश्रित प्रभाव, नवीन माध्यमों के प्रयोग पाश्चात्य देशों का प्रभाव आदि की चर्चा द्वारा राजस्थान की आधुनिक मूर्तिकला की विशेषताओं, सामाजिक एवं राजनीतिक विवेचन किया जायेगा । राजस्थान राज्य द्वारा मूर्तिकारों को दिये गये प्रोत्साहनों, राजकीय एवं स्वयं सेव माध्यम से कला की गतिविधियों के विकासोन्मुख परिवर्तन, सांस्कृतिक परिरक्षण में मूर्तिकारों के योगदान की जायेगी तथा कला की राष्ट्रीय धारा में राजस्थान की भूमिका की भी व्याख्या होगी । इस इकाई का अध्ययन पर आपको राजस्थान के आधुनिक मूर्तिकारों, मूर्तिशिल्पों, मूर्तिकला के क्षेत्र में नवीन प्रयोगों एवं गतिविधियों

16.02 प्रस्तावना

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : - कला के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन को सुविधा की दृष्टि से प्राचीन, मध्यकाल आधुनिक विभागों में बाँटा जाता है । यद्यपि विकास की गति सतत एवं क्रमिक रहती है । प्रस्तुत अध्ययन की से हमारा आधुनिक काल का तात्पर्य 1901 से प्रारम्भ कर समकालीन समय तक अर्थात् पूरी एक शताब्दी से है । राजस्थान में यह एक शताब्दी दो लगभग बराबर कालांशों में विभाजित हो जाती है जिसका अध्ययन पूर्णत: पृथक् रूप में कर ही वांछित प्रतीत होता है । पहला कालांश स्वतंन्त्रता पूर्व के राजपूताना के देशी राज्यों में बँटा हुआ है तथा दूसरा भारतीय गणराज्य के एक प्रान्त में रूप रियासतों के विलय के पश्चात् आविर्भूत राजस्थान राज्य की इकाई के रूप में है।

मूर्तिकला अभिव्यक्ति का त्रिआयामीय माध्यम है जिसमें भावों, विचारों तथा वस्तुओं की कलात्मक अभिव्यक्ति मूर्ति रूप में स्थूल माध्यम द्वारा की जाती है । कलात्मक अभिव्यक्ति के स्कूल

माध्यमों में मिट्टी, पाषाण, काष्ठ तथा धातु का समावेश किया जाता है । कुछ नवीन माध्यमों का उपयोग भी मूर्तन के लिए किया जाने लगा है । जिनमें फाइबर, स्क्रैप, सीमेन्ट कांक्रीट, थर्मोकोल आदि आते हैं । यह सभी माध्यम स्थान, अन्तराल तथा रूप के संयोजक द्वारा त्रिआयामीय मूर्त रूप में अभिव्यक्ति करते हैं । तकनीक के आधार पर भी मूर्तिकला के विभेद किये जा सकते हैं । प्रमुख रूप से चारों ओर से काट कर बनाई स्वतंत्र मूर्तियाँ तथा सपाट धरातल पर उभार कर उच्चित्रित या रिलीफ में अंकित मूर्तियाँ । इनका पृष्ठभाग सपाट या भित्ति का भाग रहता है । इन्हें भी इतनी गहराई से उत्कीर्ण किया जाता है कि मानो भित्ति से अलग करने में कोई कठिनाई नहीं होगी । इन्हें अर्धचित्र उच्चित्रित मूर्ति या ' 'बास रिलीफ ', कहां जाता है । इनके अतिरिक्त विषय वस्तु के प्रस्तुतीकरण की शैली के आधार पर भी पारम्परिक, यथार्थवादी, आलंकारिक, ज्यामितीय आदि भेद मूर्ति कला में स्पष्ट रूप से मिलते हैं ।

16.03 रियासती काल में आधुनिक मूर्ति कला का विकास

राजस्थान के प्राचीन मंदिरों तथा संग्रहालयों में संरक्षित मूर्तियों के उदाहरण स्वत : मूर्तिकला की समृद्ध परम्परा का संकेत करते हैं जिसका आविर्भाव ईस्वी पूर्व प्रथम - द्वितीय शताब्दी से नगरी, (चित्तौड़), शाकम्भरी (सांभर), विराट नगर, रंगमहल (बीकानेर) आदि अनेक स्थलों पर हो चुका था। यद्यपि अभिलेखीय प्रमाणों के आधार पर यह सतत क्रम उसी समय से सिद्ध होता है परन्तु मंदिरों एवं मूर्तियों के अवशेषों के आधार पर भी 7 वीं शताब्दी से 15 वीं शताब्दी तक निरन्तर मूर्तियों तथा मंदिरों का निर्माण, शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों प्रतिमा विज्ञान, एवं, वास्तु विज्ञान के सिद्धान्तों का सृजन एवं प्रयोग होता रहा । इसका विस्तृत अध्ययन हमने पिछली इकाई में किया है । उसके बाद के मूर्तिकला के इतिहास में मूर्तिकला के स्थान पर शासकों की रुचि संगीत, चित्रकला तथा वास्तु को अधिक प्रभावित करने लगी । फिर भी सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में भी दुर्ग, जलस्थापत्य, राजमहल, स्मारक आदि न मूर्तिकला को स्थान प्राप्त हुआ । बींसवीं शताब्दी का प्रारम्भ पाश्चात्य कला के प्रभाव का काल भी कहां जा सकता हैं क्योंकि ब्रिटिश प्रभुसत्ता ने सभी देशों राज्यों में अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शिक्षा व संस्कृति के एक नये वातावरण को जन्म दिया ।

कला तथा कारयित्री प्रतिभा के विकास के लिए राज्याश्रय तथा प्रशिक्षण के अवसर के साथ उसका आर्थिक पक्ष भी महत्वपूर्ण है । कला का विकास तभी संभव होता है जब ललित कला के साथ-साथ उसका जीवनोपयोगी तथा आर्थिक पक्ष के साथ सामन्जस्य हो । इस दृष्टि से मूर्तिकला का विवेचन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूर्तिकला में अन्य कलाओं की अपेक्षा संख्यात्मक विकास कम क्यों हुआ है । मूर्तिकला का वास्तु पर निर्भर होना तथा धर्म का भारतीय जीवन का अभिन्न अंग होना ऐसे कारण थे जिनके फलस्वरूप प्राचीन काल में मूर्तिकला का चरमोत्कर्ष हुआ था । इस दृष्टि से वास्तु से सामन्जस्य तथा सामाजिक उपादेयता होने पर ही मूर्ति के ललित पक्ष का विकास तथा नवीन माध्यमों के प्रयोग में कलाकार की रुचि रहती है अन्यथा कला उद्योग तक सीमित रहकर विकास की सम्भावनाएँ खोने लगती हैं । इसका एक कारण यह भी है कि मूर्तिकला जीविकोपार्जन की आवश्यकता की पूर्ति केवल उद्योग रूप में ही कर सकती है । वास्तु तथा स्थान की अपेक्षा के कारण स्वतंत्र रूप से मूर्तिकला का विकास राज्याश्रय के अभाव में संभव नहीं हो सकता । यह भी एक कारण था कि

मंदिरों के निर्माण का ह्रास होने से मूर्तिकला की परम्परा स्वतंत्र मूर्ति के रूप में विकसित होने लगी न कि वास्तु के अंग के रूप में ।

19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही कुछ प्रबुद्ध ब्रिटिश अधिकारियों तथा भारतीयों ने कला शिक्षा के क्षेत्र में रुचि लेनी प्रारम्भ की थी । ब्रिटेन तथा योरोप में भारतीय औद्योगिक कला की दक्षता तथा कौशल के प्रति प्रशंसा का भाव था जैसा कि 1851 में इंग्लैंड में आयोजित प्रदर्शनी के प्रति जन मानस की प्रतिाक्रिया से ज्ञात होता है । बर्डवुड ने इसकी प्रशंसा करते हुए इसे स्वर्ग की छवि कहां था । यहां की कला को जीवन्त शक्ति की उपमा दी थी ।

इसके बाद जयपुर में 1883 में प्रदर्शनी तत्कालीन महाराजा के संरक्षण में बम्बई और लाहौर के आर्ट स्कूलों के प्राचार्यों. ग्रिफिथ और किपलिंग द्वारा आयोजित की गई थी जिसका उद्देश्य था - राजपूताना तथा ब्रिटिश भारत के अन्य क्षेत्रों की (1) औद्योगिक कला का सामान्य जनता में प्रचार व प्रसार, (2) मूर्तिकारों को आर्थिक लाभ के अवसर प्रदान करवाना, (3) कलाकृतियों की गुणवत्ता और सौन्दर्य मूल्य का ज्ञान अर्थात् कला के क्षेत्र में क्या हो रहा है और उसका सौन्दर्य मूल्य क्या है दर्शकों को यह जानकारी कराना और (4) शासन कलात्मक उद्योगों की उन्नति और सुधार के लिए क्या करे। इस प्रदर्शनी से मूर्तिकला तथा औद्योगिक कलाओं की गिरती हुई स्थिति के कारण भी स्पष्ट हो गये थे । भारतीय बाजार में इन उद्योगों का स्थान योरोप से आने वाली सस्ती मशीन से निर्मित वस्तुएँ ले रही थी । इस बाजारी स्पर्धा के कारण भारतीय कलात्मक वस्तुओं का स्तर भी घट रहा था । ब्रिटिश शासन ने औद्योगिक कलाओं के गुणात्मक ह्रास को रोकने के लिए 1883 में संग्रहालय तथा प्रदर्शनी के लिए नियम बनाया और हर वर्ष कलकत्ता में वार्षिक प्रदर्शनी आयोजित की जाने लगी जिससे अपने देश और विदेशों में भारतीय कलाकृतियों का बाजार बन सके । प्रान्तीय समितियों और कला स्कूलों के प्राचार्यों के माध्यम से इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी के आयोजन के लिए भारतीय कलाकृतियों का संग्रह किया जाने लगा । इस सामग्री के संग्रह के लिए संग्रहालयों का निर्माण किया गया । इसके अतिरिक्त जरनल ऑफ इन्डियन आर्ट एण्ड इन्डस्ट्री का प्रकाशन, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में इन कलाकृतियों को प्रकाशित किया गया, जे.एल. किपलिंग की अध्यक्षता में प्रारम्भ किया गया । इस शोध पत्रिका का प्रकाशन दो उद्देश्यों की पूर्ति करता था । एक तो, भारतीय कलाकारों की सर्वोत्तम कृति को प्रकाशन का अवसर जो अन्य कलाकारों की प्रेरणा का स्रोत बन सके । दूसरे यूरोपीय जगत में उनकी कृतियों के लिए अच्छा बाजार बन सके । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 20 वीं शताब्दी के दूसरे दशक में इन्डियन सोसायटी आफ ओरियन्टल आर्ट की स्थापना कलकत्ता में हुई जिसके माध्यम से प्रदर्शनियाँ की गई । यद्यपि आर्ट स्कूलों का प्रारम्भ भारतीय प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों तथा ब्रिटिश अधिकारियों की इस क्षेत्र में रुचि इकाई से हुआ था परन्तु 1880 के बाद सभी आर्ट स्कूलों का प्रशासन ब्रिटिश सरकार के हाथ में था। इनका उद्देश्य औद्योगिक कलाओं का संरक्षण, सुधार, और प्रयोग और विकास था इनमें ललित कलाओं की शिक्षा तथा महत्व गौण था । जयपुर में सर्वप्रथम स्कूल आफ आर्ट की स्थापना डॉ. हण्टर की प्रेरणा से 1866 की जनवरी में 25 विद्याथियों और सात सात शिक्षकों से हुई। कलाओं की औपचारिक शिक्षा का विचार तथा प्रारूप के सुझाव डॉ. हन्टर ने ही जयपुर के तत्कालीन महाराज को दिये थे । डॉ. हन्टर उस समय मद्रास स्कूल के प्राचार्य थे । जयपुर में मूर्तिकला की शिक्षा के लिए पर्याप्त कच्चा माल तथा प्रतिभा की प्रचुरता थी । प्राकृतिक स्रोतों के साथ देशी कारीगरों में संगमरमर तथा अन्य पत्थर, लकड़ी तथा मिट्टी का काम करने वाले बहुत बड़ी संख्या में थे। ये कारीगर वंशानुगत

डिजाइन, जालियाँ आदि काटने का कार्य करते थे जो उच्चकोटि का था परन्तु उचित आश्रय, निर्देशन और बाजार में खपत के अभाव में प्रेरणा और मौलिकता खोता जा रहा था । अत : इन कारीगरों तथा उनके बच्चों को ज्यामितीय अभ्यास तथा आलंकारिक संयोजन के सिद्धान्तों की थोड़ी सी शिक्षा से ही अभूतपूर्व उन्नति की संभावना थी । स्कूल आफ आर्ट की स्थापना तथा प्रारम्भिक वर्षों में जो कला शिक्षक शिक्षण तथा प्रशासन से संबद्ध थे उनकी स्वयं की शिक्षा पाश्चात्य ढंग से हुई थी । आर्ट स्कूल के प्राचार्य कुशल प्रशासक अवश्य थे । कला का पाठ्यक्रम, अभ्यास, प्रशिक्षण आदि उनकी अपनी सूझ बूझ पर निर्भर था । शिक्षा का न तो समय-समय पर मूल्यांकन होता था, न ही सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के संदर्भ में उद्देश्य निश्चित होते थे । शिक्षा पद्धति में इंग्लैण्ड के साउथ कैंस्निगटन की पद्धति का अन्धानुकरण किया जाता था । इस पद्धति ने भारतीय कलाकारों की रुचि को परिवर्तित करना प्रारम्भ किया । मूर्तिकला शुद्ध बाह्य भौतिक अनुकरण में बधकर अपनी मौलिक पहचान खोने लगी । जयपुर के आर्ट स्कूल में प्रारम्भ के वर्षों में लैफ्टिनेन्ट जैकब, डॉ. वैलेन्टाइन, डी फाबेक, हैन्डले आदि की पाश्चात्य दृष्टि के कारण ज्यामितीय अलंकरण तथा व्यक्ति चित्रण पर अधिक बल दिया गया जिनका कलात्मक मूल्य से अधिक वास्तु में उपयोगिता तथा आर्थिक महत्व था । सन् 1870 से 1909 तक की अवधि में व्यवसायिक दक्षता की उपलब्धि के उद्देश्य से ही शिक्षा दी जाती थी । यहां बढ़ई, मिट्टी के बर्तन बनाना, जिल्दसाजी, बग्घी बनाना आदि उद्योग सिखाये जाते थे । वास्तुशास्त्र से जुड़े मानचित्रों की ड्राइंग, छपाई इलेक्ट्रोप्लेटिंग, एनग्रेविंग, फोटोग्राफी तथा आलंकारिक कढ़ाई आदि शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी । इन शिल्पों में जयपुर के कलाकारों की दक्षता का प्रमाण 1901-02 में लॉर्ड कर्जन द्वारा दिल्ली दरबार के अवसर पर आयोजित की गई प्रदर्शनी है जिसमें जयपुर व जोधपुर के पत्थर झरोखों, जाली, पीतल और चांदी के कार्यों को पुरस्कृत किया गया ।

कला तथा शिल्प के अन्योन्याश्रित संबंधों तथा पृथक् शिक्षण की आवश्यकता को देखते हुए 1909 के बाद इस स्कूल के उद्देश्यों में परिवर्तन कर स्कूल का पुनर्गठन किया गया । यह परिवर्तन हैवेल के प्रयासों का परिणाम था जो कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्राचार्य थे । जिन्होंने पाश्चात्य शिल्पों के अनुकरण के स्थान पर प्राचीन भारतीय परम्परा को पुन: सिखाने का प्रयास किया तथा औद्योगिक कला, स्थापत्य तथा ललित कला के अलग- अलग विभाग स्थापित किये । जयपुर के आर्ट स्कूल का स्वरूप व्यवसायिक केन्द्र के स्थान पर शैक्षणिक होता गया । 1923 के बाद मूर्तिकला तथा अन्य कलाओं की शिक्षा को व्यवसायिक शिक्षा से पूर्णत: अलग कर दिया गया और कलकत्ता आर्ट स्कूल के विद्यार्थी असित कुमार हाल्दार तथा शैलेन्द्र नाथ डे इस स्कूल के प्राचार्य तथा उप प्राचार्य नियुक्त किये गये। जयपुर राज्य ने स्कूल का नया नामकरण महाराजा स्कूल आफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट किया । इस स्कूल में कला शिक्षा का उद्देश्य सौन्दर्य रुचि व प्रतिभा का विकास तथा प्रशिक्षण था ।

जयपुर के अतिरिक्त ब्यावर तथा आशापुरा में औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के संस्थान प्रारम्भ हुए । ब्यावर में 1883 में तथा आशापुरा में 1901 में स्थापित इन संस्थानों में कालीन बुनाई, लौहकर्म, काष्ठकला, सिलाई, राजमिस्त्री, मोची आदि उद्योगों को ही प्राथमिकता दी गई । परन्तु रेखांकन (ड्राइंग) चूंकि सभी कलाओं में एवं शिल्पों का मूल उत्स है अत: इसकी शिक्षा सबको दी जाती थी । बिरला एजूकेशन ट्रस्ट ने भी कला एवं शिल्पों की शिक्षा के महत्व को समझा जो मस्तिष्क के ज्ञानवाही एवं कर्मवाही स्नायुतन्त्र को विकसित करता है तथा कल्पना की अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के साथ जीविकोपार्जन की विधा प्रदान करता है । अत : पिलानी में 1931 में टोपी बनाना, लकड़ी

पर नक्काशी, रंगाई, छपाई, बुनाई, कम्बल दरी बनाना, बढ़ई आदि शिल्पों का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। स्कूल में प्रत्येक छात्र के लिए शिल्प शिक्षा अनिवार्य थी । कुटीर तथा ग्रामीण उद्योगों की शिक्षा के साथ अलंकरण की रुचि का विकास किया गया । अजमेर में आर्यसमाज एजूकेशन ट्रस्ट ने 1946 के बाद मृत्तिका कला की शिक्षा प्रारम्भ की । इस प्रकार औद्योगिक शिक्षा के रूप में मूर्तिकला एवं वास्तु की शिक्षा औपचारिक रूप से प्रारम्भ हुई ।

जयपुर के आर्ट स्कूल पर बम्बई के जमशेदजी जीजीभाय स्कूल आफ आर्ट का भी प्रभाव पड़ा। इस स्कूल में के मूर्तिकला को विशेष प्रश्रय मिला था क्योंकि यहां का प्राचार्य 1878 तक लॉकवुड किपलिंग स्वयं मूर्तिकार थे । उसके निवासियों निर्देशन में ड्राइंग, मिट्टी में मूर्तन तथा धातु में कार्य प्रमुख रूप से सिखाया जाता था । पकाई मिट्टी के पात्रों की ग्लेजिंग, चित्रण आदि मुल्तान का कारीगर सिखाता था, जो प्राचीन काल से इस कला के लिए प्रसिद्ध था । राजस्थान की अनेक परम्पराओं मूर्तियाँ बम्बई के कलाकारों द्वारा बनाई गई है । मानवाकृति का अध्ययन आदमकद था आवक्ष मूर्तियों के निर्माण की परम्परा 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अत्यधिक लोकप्रिय थी क्योंकि इसे राजपूताना के राज्यों का संरक्षण प्राप्त था । इन मूर्तियों का निर्माण जे. जे. स्कूल आफ आर्ट द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों पर आधारित तथा प्रभावित था ।

16.04 आदमकद या आवक्ष मूर्तियों की स्थापना

राजस्थान में मूर्तिकला का यह पक्ष सर्वाधिक विकसित अवस्था में दिखाई पड़ता है जबकि ललित कला के मापदण्डों के अनुसार इस विधा में केवल अध्ययन की निपुणता तथा तकनीक की दक्षता का ही उदाहरण मिलता है न कि कलाकार की स्वतंत्र अभिव्यक्ति या कल्पना का विकास । मूर्तिकला के क्षेत्र में बड़ी मूर्तियों का निर्माण, श्रम एवं व्यय साध्य होने के साथ मूर्ति के संरक्षण एवं स्थापना के लिए सार्वजनिक स्थान की अपेक्षा भी रखती है अत: राज्याश्रय के अभाव में इस विधा के विकास की संभावनाएं नहीं रहती । राजपूताना के प्रत्येक राज्य से इस प्रकार की मूर्तिकला के उदाहरण प्राप्त होते हैं । मूर्तिकला की इस विधा पर ब्रिटिश शैली का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है । राजपूताना के राजाओं ने संस्कृति संरक्षण की परम्परा का अनुसरण करते हुए वीर, पुरुषों, पूर्वजों तथा संतों के स्मारक सार्वजनिक स्थानों व उद्यानों में स्थापित किए । इन मूर्तिकारों में अधिकांश इंग्लैण्ड या बम्बई के मूर्तिकारों के नाम मिलते हैं जो पाश्चात्य परम्परा में पाषाण एवं कांस्य प्रतिमाओं का निर्माण करते थे । राजपूताना के राज्यों में जयपुर को छोड़कर अन्य किसी भी राज्य ने अपने राज्य की कला प्रतिभा के संरक्षण एवं विकास के लिए औपचारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं की थी । संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओं का विकास अनौपचारिक शिक्षा के माध्यम से जोधपुर, मेवाड़ हाड़ौती आदि के राज्यों में अवश्य हुआ परन्तु कोई उल्लेखनीय उपलब्धि मूर्तिकला के क्षेत्र में नहीं हुई । जयपुर को छोड़कर राजपूताना की जिन रियासतों में मूर्तिकला को प्रश्रय मिला उनमें बीकानेर का नाम अग्रणी है यहां की मूतियों पर पाश्चात्य मूर्तिकारों की ही छाप है । बीकानेर राज्य में राजाओं के पूर्वजों तथा वीर पुरुषों के स्मारक बनाने की स्पर्धा सी प्रतीत होती है । मूर्तियों के निर्माण, स्थापना और बीकानेर के सौन्दर्य करण में महाराजा गंगा सिंह की सूझबूझ एवं सुरुचि सराहनीय है । वर्ष 1915 में उन्होंने अपने पिता महाराजा लाल सिंह की संगमरमर की आदमकद खड़ी हुई प्रतिमा की स्थापना करवाई जिसका अनावरण लार्ड हार्डिंग ने गंगा निवास नामक सार्वजनिक उद्यान में किया था । इसी वर्ष महाराजा डूंगरसिंह की

विशाल मूर्ति एक छत्री के नीचे स्थापित की गई यह संगमरमर की मूर्ति तथा विशाल छत्री जूनागढ़ दुर्ग के मुख्य द्वार के सामने के मैदान में स्थित है । यह अंग्रेज मूर्तिकार गिलबर्ट बाइज ने 1914 में बनाई थी । मूर्ति के पृष्ठ भाग पर अभिलेख अंकित हैं । महाराजा डूंगरसिंह राजसी वेशभूषा में मोती की कलंगी से अलंकृत पगड़ी, माला, बाजूबन्द तथा ताबीज पहने हैं । अंगरखा, जामा पायजेब, जूतियाँ, ढाल, तलवार आदि राजपूती वेशभूषा का अंकन अत्यन्त कुशलता से लन्दन के मूर्तिकार द्वारा किया गया है । महाराजा का नाम तथा परिचय स्मारक की पीठ पर अंकित है । यह उल्लेखनीय है कि स्मारक के निर्माण में सर्वसाधारण की भी महत्वपूर्ण भागीदारी थी । यह पूरी मूर्ति एक ही पत्थर से काटकर बनी है, जबकि छत्री अन्य पत्थर की है । ब्रिटिश मूर्तिकार द्वारा पूर्णत: भारतीय अलंकरण योजना का अनुकरण करते हुए छतरी का निर्माण किया गया है । इसी मैदान में बीकानेर के संस्थापक राव बीकाजी का अश्वारोही मूर्ति शिल्प दाहिनी ओर स्थापित किया गया जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के युग का उदाहरण है तथा कांस्य में ढाल कर बनाया गया है । बीकानेर राज्य की स्थापना की पंचशती के अवसर पर 7 मई 1989 व को महामहिम राज्यपाल द्वारा यह अनावरित किया गया । इसके अतिरिक्त बीकानेर के अंतिम महाराजा करणीसिंह, वीर देशभक्तों तथा प्राण त्याग करने वाले पुरुषों में वीर दुर्गादास की सीमेन्ट निर्मित आवक्ष मूर्ति 1976 के भारत पाकिस्तान युद्ध में शहीद मेजर पूर्णसिंह की प्रतिमा संगमरमर की बनाई गई है । अन्य महाराजाओं में गंगासिंह की धातु प्रतिमा 1927 में तथा सादुलसिंह की कांस्य प्रतिमा 1958 में स्थापित हुई थी।

बीकानेर के अति रिक्त अन्य रियासतों में भी इस प्रकार की प्रतिमाओं की स्थापना की गई जिनमें महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाट टैगोर, विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि के नाम लिये जा सकते हैं । परन्तु यह सभी प्रतिमाएं स्वतन्त्रता पश्चात् के काल की है तथा जयपुर के मूर्तिकारों द्वारा बनाई गई है । अजमेर में स्वतन्त्रता पूर्व की मूर्तियों में लार्ड मेयो और लेसली सौन्डर्स की प्रतिमाओं का नाम लिया जा सकता है । ये मूर्तियाँ स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा भी बनवाई गई है जैसे कचहरी रोड पर जनरल एश्योरेन्स सोसायटी लिमिटेड द्वारा कार्यालय के प्रांगण में पी. डी. भार्गोवा की आवक्ष प्रतिमा संगमरमर में बम्बई के कलाकार द्वारा निर्मित करवाकर 1934 में स्थापित की गई । लार्ड मेयो तथा लेसली सौन्डर्स जो अजमेर का कमिश्नर (1871 - 1885) था, की मूर्तियाँ स्वतन्त्रता पूर्व की मूर्तिकला के उदाहरण हैं । ये सभी मूर्तियाँ बम्बई के इकाई कलाकारों द्वारा निर्मित थीं तथा सफेद संगमरमर में बनी हैं । लेसली सौन्डर्स की प्रतिमा के स्थान पर रामकृष्ण परमहंस की आवक्ष प्रतिमा सन् 1963 में स्थापित की गई परन्तु छत्री उसी प्रकार है उसमें प्राचीन प्रतिमा का नामोल्लेख भी हैं। बस स्टैन्ड के चौराहे पर संविधान निर्माता डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की आदमकद धातु मूर्ति नगर विकास न्यास द्वारा स्थापित की गई है । शताब्दी के अन्तिम दशक में पृथ्वी राज चौहान की अश्वरोही 9' 6" की कांस्य प्रतिमा (1996 में स्थापित) तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती की प्रतिमा विश्वविद्यालय परिसर में 1998 में स्थापित इस दशक के अन्तिम चरण की मूर्तियाँ हैं यद्यपि इनके कलाकार राज्य के बाहर के हैं ।

उदयपुर में भी 1962 में महाराणा प्रताप स्मारक समिति की स्थापना का उद्देश्य ही महाराणा प्रताप का राष्ट्रीय स्तर का स्मारक निर्माण करना था । अत: मोती मगरी में महाराणा प्रताप और उनके सहयोगियों राणा पूंजा भीलूराजा, हकीम खां सूरी, भामाशाह, झाला मान आदि की धातु प्रतिमाएँ लगाई गई । महाराणा प्रताप की चेतक अश्वारूढ कांस्य प्रतिमा का निर्माण मेवाड़ के भूतपूर्व महाराणा एवं

राजप्रमुख श्री भूपाल सिंह द्वारा प्रदत्त 1 लाख दस हजार के अनुदान से हुआ । राजा पूजा की कांस्य प्रतिमा (1989 में स्थापित) तथा हकीम खां सूरी की आदमकद कांस्य प्रतिमा का निर्माण बम्बई के कलाकारों ने किया है । हकीम खां सूरी महाराणा प्रताप की मुस्लिम सेना के नायक थे । इसी स्मारक में झाला मान तथा भामाशाह की आदमकद मूर्तियाँ भी अलग- अलग उद्यानों के मध्य स्थापित की गई है जो ग्वालियर के कलाकारों ने बनाई है । इसी परम्परा का अनुकरण झालावाड़, कोटा, जोधपुर, जयपुर में भी किया गया । झालावाड़ में विवेकानन्द की 6' 6" ऊँची प्रतिमा काले संगमरमर की जयपुर के रामेश्वर मूर्तिकार ने बनाई थी जिसकी स्थापना 1995 में की गई थी।

कोटा में अनेक सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित हैं जिनमें से चम्बल बैरेज के उद्यान की मूर्ति उषा रानी हूजा ने बनाई है । इसके अतिरिक्त उम्मेद उद्यान में महाराव उम्मेद सिंह की मूर्ति, नयापुरा चौराहे पर विवेकानन्द, न्यायालय परिसर में अम्बेडकर, गांधी चौक पर महात्मा गांधी की प्रतिमाएं स्थापित हैं । महात्मा गांधी की आदमकद सफेद संगमरमर की 5' 6" लम्बी प्रतिमा तीन खंडे वाले प्लेटफार्म पर स्थापित है जिन पर स्थापना का विवरण, महात्मा गांधी के उपदेश अंकित हैं । दूसरे खंड पर रिलीफ शैली गाधी जी के माता -पिता, चरखा, कस्तूरबा गांधी तथा भारत का मानचित्र अंकित है । तीसरे खंड पर एक तरफ उनका संक्षिप्त परिचय है उम्मेद उद्यान की महाराव उम्मेदसिंह की अष्ट धातु की प्रतिमा नागरिकों के सम्मिलित प्रयास से स्थापित की गई है । इसके 15 ' ऊंचे प्लेटफार्म पर महाराव का परिचय, कोटा राज्य का मानचित्र, कोटा राज्य का राजचिन्ह, स्थापना का विवरण आदि अंकित है । कोटा जिला न्यायालय में डॉ. भीमराव अम्बेडकर की प्रतिमा जयपुर के मूर्तिकारों द्वारा निर्मित कराई गई है ।

इन सभी मूर्तियों को देखने से दो तथ्य स्पष्ट होते हैं - पहला मूर्ति निर्माण में प्रविधि गत दक्षता होते हुए भी मूर्तियाँ सौन्दर्य के मापदण्ड सादृश्य प्रमाण अनुपात, लावण्य आदि गुणों के आधार पर खरी नहीं उतरती ' । यद्यपि ये मूर्तियाँ पहले मिट्टी में कच्ची प्रतिमा तैयार करने के बाद पत्थर में काटी या धातु में ढाली गई हैं परन्तु किसी भी प्रकार सादृश्य तथा भावाभिव्यक्ति में उच्चकोटि की सिद्ध नहीं हो पाती । इनमें कुछ मूर्तितयाँ उल्लेखनीय हैं जैसे अश्वारोही बीकाजी तथा महाराणा प्रताप की मूर्ति जो घोड़े की गति तथा आकार से प्रभाव डालती हैं । विवेकानन्द तथा दुर्गादास की आवक्ष प्रतिमाएँ तथा रवीन्द्रनाथ की अजमेर की आवक्ष मूर्तियाँ सुन्दर हैं । दूसरा, सबसे अधिक खटकने वाला तथ्य यह है कि मूर्ति के प्लेटफार्म पर दानकर्ता, जन सहयोग तथा नगर विकास न्यास का संस्थान के सदस्यों तक का उल्लेख नहीं मिलता जो मूर्तिकारों की उपेक्षा का स्पष्ट प्रमाण है । नगर विकास न्यास, सार्वजनिक निर्माण विभाग आदि की फाइलों से ही कलाकारों के नाम ज्ञात होते हैं । वहां भी कभी कभी उस संस्था या दलाल का नाम होता है जो शासन का टेण्डर भरता है । यह परम्परा राजस्थान में ही अधिक दिखाई पड़ती है जिससे मूर्तिकला का विकास अवरुद्ध हुआ है ।

16.05 जयपुर एवं मूर्तिकला

मूर्तियों के सर्वेक्षण से यह भी स्पष्ट होता है कि 20 वीं शताब्दी में जयपुर मूर्तिकला का एक मात्र केन्द्र है जहां खजाने वालों के रास्ते में मूर्ति मोहल्ला तथा भिन्डों के रास्ते में अनेक परिवार मूर्तिकला का व्यवसाय करते हैं । आज भी लगभग 53 परिवार यहां निवास करते हैं जो पूर्णत: मूर्ति निर्माण पर ही निर्भर हैं, तथा जिनके यहां वश परम्परा से यही व्यवसाय होता है । महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स

एण्ड क्राफ्ट्स से इन परिवारों के बच्चों ने पारम्परिक शिक्षा के साथ आधुनिक माध्यमों के प्रयोग और कला को औपचारिक शिक्षा प्राप्त की है । इन मूर्तिकारों में नारायण लाल जैमिनी, गोपी चन्द मिश्रा, लल्लू नारायण शर्मा, रामेश्वर मूर्तिकार, महेन्द्र प्रसाद बंगाली, टी. पी. मिश्रा आदि महत्वपूर्ण हैं । जयपुर के मूर्तिकारों की सूची जिसमें 53 मूर्तिकार परिवारों के नाम हैं सृजन नामक, ललित कला अकादमी की पत्रिका के 1961 के अंक में प्रकाशित है । ये मूर्तिकार यद्यपि जीविकोपार्जन के लिए देवी देवताओं की मूर्तियाँ तथा ग्राहकों की इच्छानुसार ऐतिहासिक पुरुषों की मूर्तियाँ वास्तु के अलंकरण, जालियाँ, फर्नीचर, खिलौने आदि बनाते हैं परन्तु इसके साथ ही अपनी कल्पना एवं सृजनशीलता को जीवित रखने के लिए नूतन प्रयोग और मौलिक विषयों का मूर्तन भी करते हैं । यहां के मूर्तिकारों को विश्वभर से मूर्तिनिर्माण के आदेश प्राप्त होते हैं । जबलपुर नगर निगम में लगी विशाल प्रतिमा, सारनाथ दवीर बौद्ध विहार में स्थापित बुद्ध मूर्ति, नई दिल्ली के लक्ष्मीनारायण मन्दिर की मूर्तियाँ, अलवर ग्वालियर और राजस्थान के प्राय: सभी नगरों में उद्यानों, चौराहों, बड़े भवनों के बाहर स्थापित मूर्तियाँ जयपुर के मूर्तिकारों द्वारा ही बनाई गई है । इसके अतिरिक्त कुछ कलाकारों की मूर्तियों ने विदेश में भी प्रशंसा प्राप्त की है । उदाहरणार्थ गोपी चन्द मिश्रा द्वारा बनाई गई गणेश प्रतिमा अमरीका में तथा बुल्गानिन की प्रतिमा मास्को में स्थापित हैं । इसी प्रकार नारायण जैमिनी द्वारा निर्मित खुश्चेव की मूर्ति रूस में, विष्णु नारायण की मूर्ति अमेरिका में, महात्मा गांधी की प्रतिमा रंगून में तथा हनुमान की प्रतिमा अफ्रीका में स्थापित है । यही नहीं पिलानी के सरस्वती मंदिर के लिए 100 मूर्तियाँ तथा 7 फुट ऊँची मदन मोहन मालवीय जी की प्रतिमा नारायण जैमिनी द्वारा निर्मित है । चित्रकला की तुलना में मूर्ति शिल्प की गति धीमी है तथा इस क्षेत्र में कम कलाकारों ने पहल की है । निर्माण, लागत, स्थान और बिक्री की समस्याओं ने तथा जीविका एवं उपयोगिता से जुड़े प्रश्नों ने कलाकार को इस क्षेत्र में स्वतन्त्र प्रयोग करने की दिशा में उत्साहित नहीं किया है, क्योंकि प्रयोगवादी आधुनिक शिल्प की मांग बहुत कम है । मूर्ति निर्माण में आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग, व्यवसायिक और ललित कला के बीच का अन्तर भी शिल्पी को निराश करता है ।

16.06 राजस्थान के पारम्परिक मूर्तिकार

राजस्थान के प्राचीन एवं मध्यकालीन मंदिरों को देखकर यहां की मूर्तिकला की समृद्ध परम्परा का अनुमान होता है । उन मूर्तिकारों के वंशज आज भी परम्परागत शिल्प का अभ्यास तथा उसके माध्यम से जीविकोपार्जन करते हैं । पाषाण तथा काष्ठ के कच्चे माल की प्रचुरता, प्रतिभा एवं वंशानुगत प्रशिक्षण के कारण पारम्परिक मूर्ति शिल्प का निरन्तर विकास हो रहा है । राजस्थान के जिलेवार सांस्कृतिक सर्वेक्षण के अनुसार ऐसे 680 शिल्पी कार्यरत हैं जो पाषाण, काष्ठ तथा धातु में मूर्तियों का निर्माण करते हैं । यह संख्या केवल उन शिल्पियों की है जो वास्तु, पाषाण और काष्ठ में नक्काशी तथा स्वतंत्र रूप से पाषाण, काष्ठ और धातु में मूर्तियों का निर्माण करते हैं । जिलेवार सर्वेक्षण के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि मूर्ति शिल्प की समृद्ध परम्परा पाली, भरतपुर, धौलपुर, कोटा, झालावाड़, चित्तौड़, बासवाड़ा, जयपुर, अलवर एवं बाडमेर में विद्यमान है । लकड़ी तथा पत्थर में मूर्तियाँ बनाने वाले सुधार, सिलावट, कुम्हार, प्रजापति, मेघवाल, लखारा, सोमपुरा आदि जातियों के हैं । कुछ वैष्णव, कुमावत, जांगिड ब्राहमण, लुहार, गुर्जर, नाई और रैगर भी मूर्ति शिल्प का व्यवसाय करते

हैं परन्तु इनकी संख्या बहुत कम है । अलवर जिले में थानागाजी पंचायत में किशोरी ग्राम, अजमेर में मकराना, बासवाड़ा में तलवाड़ा ग्राम, सवाई माधोपुर में लिवाली, शफीपुरा महरवाड़, सितोड़ पिपलाई, जीतकीपुर ग्राम मूर्तिकला की दृष्टि से उल्लेखनीय है । इसी प्रकार टोंक जिले के टोडारायसिंह नगर में सिलावटों के 11 परिवार यह व्यवसाय करते हैं, बांसवाड़ा जिले के तलवाड़ा ग्राम में सोमपुरा जाती के रहते हैं । जो अभी भी गुजरात एवं राजस्थान के प्राचीन मंदिरों की मरम्मत के लिए बुलाये जाते हैं । जैसलमेर एवं मकराना में सुधारे। के आतिरिक्त कुछ मुसलमान शिल्पी भी इस व्यवसाय से जुड़े हैं ।

16.07 प्रयोगवादी आधुनिक मूर्तिकला

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कलाओं के संरक्षण की दृष्टि से प्रान्तीय स्तर पर ललित कला अकादमी, संगीत नाटक अकादमी तथा पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग द्वारा कलाओं का संरक्षण एवं राज्याश्रय की कमी को पूरा करने की दिशा में प्रयास किये गये । इसके अतिरिक्त कुछ स्वयंसेवी संस्थाएँ 'टखमण, 'तूलिका', 'कलावृत्त, 'पैग ', 'सृष्टि ', ' आकार प्रकार' आदि प्रत्येक महानगर में है जो कलाकारों की सामूहिक प्रदर्शनी तथा अन्य गतिविधियाँ आयोजित करती हैं । कला की पारम्परिक शिक्षा के साथ - साथ विश्वविद्यालयों के स्तर पर चाक्षुष एवं मंचीय कलाओं की अकादमिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण का सूत्रपात 1961 के बाद हुआ । इन संस्थाओं की गतिविधियों के परिणाम स्वरूप मूर्तिकला के क्षेत्र में भी व्यवसाय से पृथक् ललित कला के रूप में मूर्तिकला की परम्परा का सूत्रपात हुआ, जिसमें परम्परावादी कला के साथ नयी प्रयोगवादी सृजनधर्मिता जुड़ी है । चित्रकला के समान मूर्तिकला में भी नये आयामों की खोज तथा प्राचीन मापदण्डों को नकारने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई । इन कलाकारों पर पाश्चात्य कला का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । यह प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से जयपुर के मूर्तिकारों में ही दृष्टिगत होती है । मौलिक रचनाएँ ' यद्यपि संख्या में कम है परन्तु अधिक कलात्मक है । ये कलाकृतियाँ परम्परागत शैली से मुक्त होने का प्रयास करती है । यह प्रयास कभी प्रतीकवाद पर आधारित होता है। कभी आलंकारिक या किसी प्राकृतिक रूप को अतिशयोक्ति पूर्ण रूप से प्रस्तुत कर । इस प्रकार कला मैं आधुनिकता एक प्रकार से नये प्रयोग, प्रविधि, माध्यमों एवं पारम्परिक तत्वों से मुक्त होकर उनका अतिक्रमण या उनके पार चले जाना ही आधुनिक कला का लक्षण किया जा सकता है । अतएव मूर्तिकला में भी विषय वस्तु, रूप, तथा वस्तु, एवं रूप की संगति, सादृश्य, प्रमाण आदि तत्वों का अतिक्रमण, नये माध्यमों, प्रविधियों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ । इस दिशा में मूर्तिकला की अपेक्षा अन्य कलाओं में अधिक स्वतन्त्रता तथा सफलता प्राप्त हुई । चूंकि मूर्तिकला मूलत त्रिआयामीय रूप पर ही आधृत है रूप को नकारने का प्रयास अभूतपूर्व अरूपों, विरूपों व अतिरूपों में अभिव्यक्त होने लगा। रूप की अन्य विशेषताओं की सीमाओं की खोज का प्रयास करता हुआ आधुनिक मूर्तिकार पारम्परिक रूप को छोड़ने का प्रयास करता है ।

रूप की विशेषता है उसकी जैवशक्ति या जीवनी शक्ति या अभिव्यंजना शक्ति । इसका तात्पर्य सजीवता, गति, शारीरिक क्रिया, नृत्य-गीतादि ये व्यक्त हाव भाव मात्र ही नहीं अपितु इससे अधिक कृति की अपनी शक्ति, उत्कट जीवन जो उस प्रतिरूपित वस्तु या व्यक्ति का अतिक्रमण करते हुए व्यक्त हो जिसकी प्रस्तुति वह वस्तु कर रही है । ऐसी विशुद्ध जैव शक्ति को हम सौन्दर्यानुभव से नहीं जोड़ते । इसका अर्थ हुआ आधुनिक मूर्तिकला में सौन्दर्य का यह वह अर्थ नहीं है जो प्राचीन, मध्यकालीन

व पारम्परिक मूर्तिकला के संदर्भ में समझा जाता है। पारम्परिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति तथा आधुनिक मूर्ति की अभिव्यंजना शक्ति का अन्तर कार्य भेद का है। पहली का उद्देश्य इन्द्रियों को सुखद अनुभूति प्रदान करना है जबकि दूसरी का लक्ष्य विशुद्ध रूप से जैव शक्ति की अनुभूति कराना जो आधुनिक मूर्तिकारों का लक्ष्य है। आधुनिक मूर्त रूप प्राकृतिक रूप की अनुकृति पुनर्प्रस्तुति, न होकर दृश्य जगत् से पलायन हो गया है। यह संभवत: यथार्थ की तह तक जाना या जीवन की सार्थकता खोजने का प्रयास हो सकता है। राजस्थान की मूर्तिकला पर भी पाश्चात्य आधुनिक प्रवृत्तियों का प्रभाव दष्टिगोचर होता है। यहां भी पारम्परिक शैली का परित्याग तथा नये रूपों व तत्वों के आकलन के रूप में यह प्रभाव व्यक्त होता है। यद्यपि यह प्रयोग प्रियता अनेक मूर्तिकारों में दिखाई पड़ती है परन्तु परम्परागत मापदण्डों के त्याग में वह लगन, निष्ठा तथा प्रतिभा। नहीं दिखाई पड़ती जो निष्ठा परम्परा के पालन में थी।

कलाकार की कला पर यह प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कई रूपों में दृष्टिगोचर होता है, जैसे मूर्तिकला का प्रभाव चित्र पर या चित्र का प्रभाव मूर्ति पर। कला की विधा ही संक्रामक रोग के समान है, कलाकार की दृष्टि अचेतन रूप में वह सब ग्रहण करती रहती है जो उसके दृष्टिपथ में आता है। अत: अपने पूर्वजों व समकालिकों से अछूता रहना न तो संभव है न ही वांछनीय। अस्तु परम्परावाद का कुछ अंश प्रत्येक मूर्तिकार में अव्यक्त रूप से विद्यमान अवश्य रहता है जिसे कलाकार प्रयास पूर्वक छोड़ते हुए आगे बढ़ता है। इस ऐतिहासिक विकास के क्रम में कलाकार का चेतन तथा अचेतन व्यक्तित्व जो प्रतिक्रिया करता है उन्हीं के आधार पर वह नवीन सृजन करता है। राजस्थान के आधुनिक मूर्तिकारों में सामान्य रूप से प्राकृतिक रूपों की अभिव्यक्ति के प्रति झुकाव दिखाई पड़ता है तथा कुछ में किसी एक कलाकार या एक प्रवृत्ति का ऋण अधिक दिखाई पड़ता है।

16.08 मूर्तिकला के माध्यम एवं प्रविधियाँ

राजस्थान के मूर्तिकारों में सामान्य रूप से पाषाण में अंकन के प्रति झुकाव अधिक दिखाई पड़ता है परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अन्य माध्यमों का प्रयोग भी लोकप्रिय हुआ है। पाषाण के अंकन में दो प्रविधियाँ काम में लाई जाती है। पहले में मिट्टी की प्रतिमा बनाकर अपने नाम के अनुसार पाषाण में कम्पास की सहायता से काटना या प्लास्टर का सांचा बनाकर धातु मिश्रणों में ढालना तथा दूसरी में सीधे पाषाण पर ही संयोजन उत्कीर्ण कर छेनी हथौड़ी का प्रयोग प्रारम्भ कर देना। पहली विधि का प्रयोग ऐतिहासिक व्यक्तियों, महापुरुषों या सन्तों की यथार्थ प्रतिलिपि मिट्टी में तैयार कर पाषाण या धातु प्रतिमा बनाने के लिए किया जाता है। दूसरी विधि का प्रयोग मौलिक एवं काल्पनिक अभिव्यक्ति के मूर्तन में किया जाता है। आधुनिक प्रयोगों में पाषाण या काष्ठ पर सीधे काटने का प्रयोग अधिक प्रचलित है। विभिन्न सतही पोत को प्राप्त करने के लिए घिसाई की मशीन आदि यन्त्रों के उपयोग से कलाकार वांछित प्रभाव प्राप्त करता है। पारम्परिक कलाकार यहां रिलीफ या अर्धचित्रों में संयोजन करता था जो वास्तु के अंग होने के कारण आकार, रूप तथा विषय में वास्तु से नियन्त्रित रहता था, आधुनिक मूर्तन स्वतन्त्र चारों ओर से काटकर निर्मित होता है संयोजन के लिए दो या तीन इकाईयों में मूर्तियों का निर्माण कर उनको किसी एक आधार पर संयोजित कर वांछित प्रभाव उत्पन्न करता है।

आधुनिक मूर्तिकला की विशेषता उसके प्रविधि के और शैली के क्षेत्र में नये प्रयोगों और प्रभावों पर भी निर्भर है। के प्रविधि के अन्तर्गत पाषाण तथा काष्ठ के अतिरिक्त सीमेन्ट, कांक्रीट, फाइबर,

तार, स्केप आदि अन्य धातुएँ तथा मिश्रित का प्रयोग भी किया जाता है । परन्तु मिट्टी में मूर्ति बनाना सर्वाधिक लोकप्रिय एवं सहज माध्यम है जिसमें मूर्तिकार को अपने भावों को स्थायित्व देने के आशय से नोट करता चलता है जिससे बाद में अन्य कठिन माध्यमों में उसका प्रयोग परम्पराओं कर सके। मिट्टी का प्रयोग इसलिए भी अपेक्षित रहा क्योंकि कांस्य तथा अन्य धातु मिश्रिणों के अधिकाधिक प्रचलन के साथ कलाकार प्रत्यक्ष अंकन द्वारा असली रूप की पकड़ को मजबूत करता है । रूप की पकड़ तथा विशद एवं अवान्तर अर्थो में रूप को समझ कर ही कलाकार उसे प्रति रूपात्मकता से मुक्त कर स्वतन्त्र, विशुद्ध और किन्हीं अन्य अर्थो में सार्थकता प्रदान करता है । रूप का विवरण तथा रूपान्तरण करते हुए दृश्य जगत के रूपकारों से परे जाने का प्रयास आधुनिक प्रवृत्ति का प्रमुख लक्षण है ।

विरूपण तथा रूपान्तरण के मूल में रूप ही है क्योंकि मूर्तिकला में रूप को नकारना या उसके परे जाना कल्पनातीत तत्व है । अत: आधुनिक मूर्तिकार क नवीन प्रयोग करता है जैसे रूप के मूल्यों में आयतन तथा सतही तनाव में फेर बदल करके या दो तीन रूपों को एक आधार पर संयोजित करके प्रस्तुत करना । अथवा कम प्रचलित, अदृष्ट पूर्व प्राकृतिक रूपों- शंख, वायु, अस्थियाँ, वायु एवं जल के बहाव से निर्मित पाषाण रूपों का चुनाव तथा अनुकृति उनके परिदृश्य से हटाकर उनका संयोजन करके । कलाकार के कल्पनालोक में ऐसे आकारों का कोश रहता है जो मानवीय आकारों की जगह ले सकता है ।

उपरोक्त प्रयोग शीलता हमें राजस्थान के अनेक मूर्तिकारों में प्राप्त होती है, इनमें से अधिकांश मूर्तिकार जयपुर में ही स्थित है । प्रयोगवादी इन मूर्तिकारों में भी परम्परावादी तथा प्रयोगशील दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं । जैसे आनन्दी लाल वर्मा मुख्य रूप से मिट्टी में संयोजन कर उसे पाषाण में रूपान्तरित करते हैं । उनकी कृतियों में प्लास्टर में बनाया गया 'नृत्य ' का संयोजन महत्वपूर्ण है। मूर्तिकारों के परिवार में उत्पन्न होने के कारण पारम्परिक शैली में पूर्ण पांडित्य प्राप्त है । देवी देवताओं की मूर्तियाँ तथा महापुरुषों के स्टैच्यू के अतिरिक्त कुछ अमूर्त रूपों को रूपायित भी किया है । रूपचन्द कबाड़ से स्फूर्त कलाकृतियाँ निर्मित करते हैं । मिश्रा परिवार में तीन पीढ़ियों से मूर्तिकार हैं । गोपीचन्द मिश्रा की यथार्थवादी कृतियाँ प्लास्टर तथा संगमरमर की महत्वपूर्ण हैं । देवेन्द्र मिश्रा, अरविन्द मिश्रा और रवि मिश्रा ने नये प्रयोग किये हैं । देवेन्द्र मिश्रा पारम्परिक मूर्तिकला के साथ सतही तनाव तथा विविध रंग के पत्थर का एक ही शिल्प में प्रयोग कर सफेद, पीले, काले रंगों का पोत उत्पन्न करते हैं । रवि मिश्रा के शिल्पों में तान्त्रिक आकृतियों की अनुकृति दिखाई पड़ती है । इनकी कृतियों में कुछ अमूर्त रूपों का प्रयोग भी दृष्टि गोचर होता है ।

देवेन्द्र मिश्रा ने पाषाण को 'पक्षी ' की आकृति में परिवर्तित किया है । अरविन्द मिश्रा ने मानवाकृतियों के साथ गाय तितली और पक्षियों को रूपायित किया है । माता -पुत्र, परिवार के सदस्य, बैल, सिमटी हुई गाय, तितली और पक्षियों के अण्डे यथार्थ वादी शैली में बनायी गई कृतियाँ हैं । रवि मिश्रा ने वर्तमान समाज में नारी की स्थिति के विविध रूपों को प्रस्तुत किया है जिसमें उसकी आँखों पर पट्टी, हाथ बंधे हुए हैं । मुकुट नाहाटा ने अधिकांश कार्य संगमरमर में किया है तथा मुख्य रूप से धार्मिक एवं तान्त्रिक प्रतीकों का प्रयोग किया है । रूपाकारों की सरलीकृत आकृतियों का प्रयोग इनकी कृतियों की विशेषता है । मंजू मिश्रा प्रयोगवादी महिला मूर्तिकार है जो लोक कला के प्रतीकों का प्रयोग मूर्ति शिल्पों में करती है ।

प्रयोगशीलता के साथ पाश्चात्य आन्दोलित मूर्तिशिल्प का प्रभाव अंकित पटेल की कृतियों में दिखाई पड़ता है । गुजरात से जयपुर आकर बसे हुए मूर्तिकारों में इनका नाम उल्लेखनीय है । अप्रवासी मूर्तिकारों में कुछ अन्य नाम भी उल्लेखनीय हैं जैसे महेन्द्र दास बंगाली जिन्होंने सवाई जयसिंह की प्रतिमा बनाई थी, तथा टी.पी. मिश्रा जो जयपुर स्कूल आफ आर्ट में मूर्तिकला के शिक्षक भी थे । ऊषा रानी हूजा ने सीमेन्ट कांक्रीट, प्लास्टर, फाइबर एवं लोहे के माध्यमों का प्रयोग किया इनकी प्रशंसनीय कृति 'पक्षी ' एक बाँज की मूर्ति है, जिसमें पक्षी की शक्ति तथा गति को साकार किया गया है।

मानव रूप का सरलीकरण प्रस्तुत करने वाले मूर्तिकारों में अर्जुनलाल वर्मा, तथा हरिदत्त गुप्ता के नाम उल्लेखनीय है । इसी तरह प्राकृतिक आकारों तथा सतही तनावों को विपरीत पोतों एवं रंगों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास अशोक गौड़ ने किया है ।

16.09 इकाई सारांश

इस प्रकार आपने इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् देखा कि किस प्रकार राजस्थान में मूर्तिकला की परम्पराएँ समय के साथ जीवित रहीं । रियासती काल में इस काल को संरक्षण दिया गया और यूरोपीय प्रभाव के अन्तर्गत आदमकद

मूर्तियाँ जिनका विषय ऐतिहासिक पुरुष व तत्कालीन शासक थे, बहुतायत में बनायी गयी थी। ये मूर्तियाँ राजस्थान के प्रत्येक प्रसिद्ध नगर में दिखायी देती है लेकिन इस दृष्टि से बीकानेर में स्थापित मूर्तियाँ उल्लेखनीय है । स्वाभाविक है कि इन मूर्तियों में स्वतन्त्र चिन्तन का अभाव है । मूर्तिकला के निर्माण में जयपुर का एक प्रकार से वर्चस्व सा ही रहा है और इसी नगर में पहला कला का महाविद्यालय भी खोला गया । शुरु शुरु में कलाओं के अध्ययन में यूरोपीय प्रभाव ही छाता रहा लेकिन शनैः शनैः परम्परागत शैलियों का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया । आज भी जयपुर न केवल प्रान्त बल्कि देश विदेश में मूर्ति निर्माण का विख्यात केन्द्र है । राजस्थान की मूर्तिकला निर्माण में स्वतन्त्र चिन्तन के प्रयोग स्वतंत्रता के पश्चात् प्रारम्भ हुए और कुछ उल्लेखनीय कृतियाँ भी सामने आयी और अभी भी परम्परागत शैलियों का ही बोलबाला है और चित्रकला की भांति मूर्तिकला का वांछनीय विकास नहीं हुआ है । दुर्भाग्य से मूर्तिकारों को भी वह सम्मान नहीं मिला है जिसके वे अधिकारी हैं ।

16.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों दीजिये

1. जयपुर में मूर्तिकला निर्माण का कौनसा प्रमुख स्थल है ।
2. आदमकद मूर्तियों में बीकानेर की चर्चा क्यों होती है?
3. आधुनिक काल में मूर्तियों की स्थापना में नगर विकास न्यास की क्या भूमिका रही है?
4. कुछ आधुनिक मूर्तिकारों का परिचय दीजिये । जिन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन से कार्य किया हो।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये

1. रियासती काल में मूर्तिकला ने क्या रूप धारण किये? विवरण दीजिये ।
2. राजस्थान के पारम्परिक मूर्तिकारों पर लेख लिखिये ।
3. मूर्तिकला के माध्यम एवं प्रविधियाँ पर विचार प्रकट करिये ।

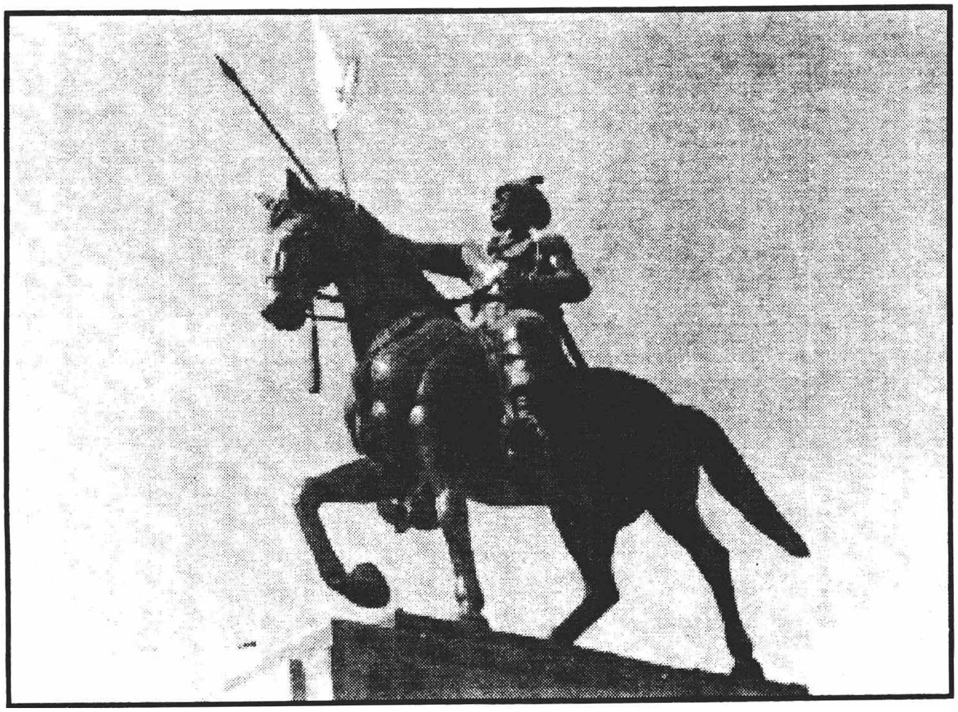

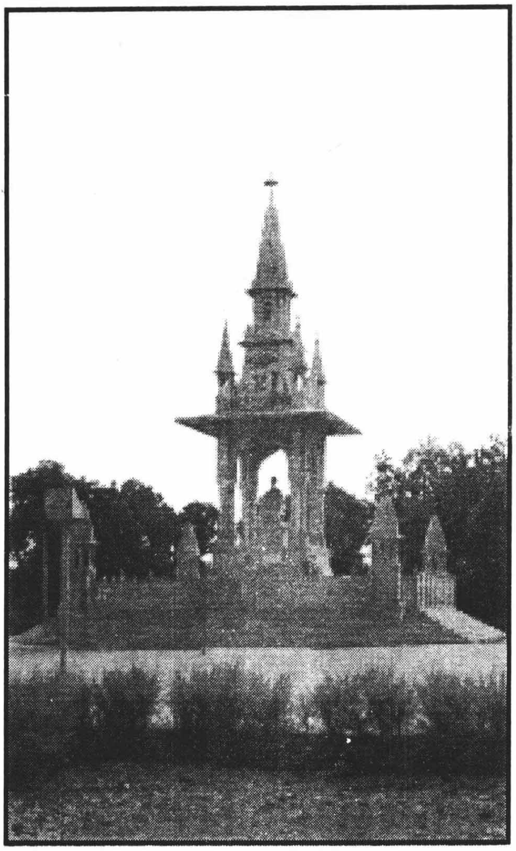

वीरवर श्री दुर्गादास
राठौड़

स्वामी विवेकानन्द
जन्म
निर्वाण

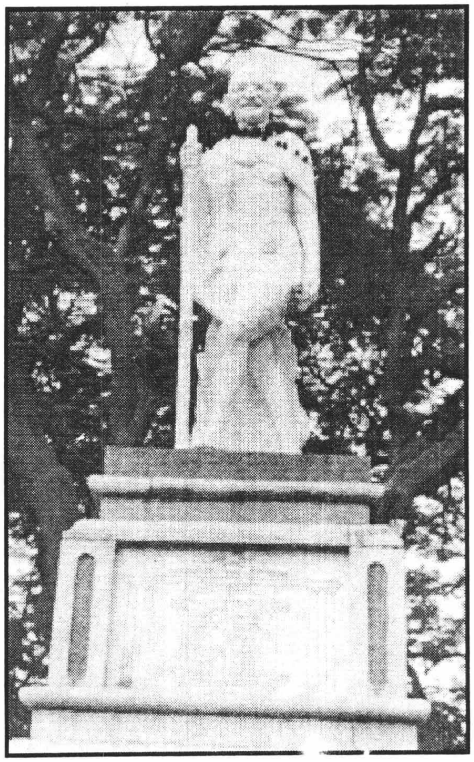

इकाई संख्या 17 "राजस्थान की लोककलाएँ"

इकाई संरचना

17.01 उद्देश्य
17.02 प्रस्तावना
17.03 राजस्थान की लोककलाएँ
17.03.01 आलंकारिक कला
17.03.02 लोकसंगीत
17.03.03 लोकचित्रांकन
(अ) अंग चित्रांकन (ब) दीवाल चित्रांकन
17.04 आधुनिक काल में लोककला
17.05 सारांश
17.06 शब्दावली
17.07 अभ्यसार्थ प्रश्न
17.08 प्रासंगिक पठनीय ग्रन्थ

17.01 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको राजस्थान की लोककलाओं के बारे में संक्षिप्त जानकारी देने से है । इसमें आपको निम्नलिखित बातों की जानकारी हो जायेगी ।

- लोक कला क्या है ?
- भारतीय समाज में यह कहां - कहां प्रचलित है ?
- इसके लिए कौन-कौन सी अलंकरण विधाऐं प्रचलित हैं ?
- राजस्थान के जीवन में लोककला का महत्व किस प्रकार का है ।

17.02 प्रस्तावना

इस इकाई का अध्ययन करते समय विद्यार्थी को यह ध्यान में रखना होगा कि इसमें दी गयी सूचनाएँ आपको पाठ्यक्रमों की अन्य इकाईयों में विस्तार से मिलेगी । यहां उसे संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत मात्र विषय के समग्र अध्ययन की दृष्टि से किया जा रहा है । जैसे आप इसी पाठ्यक्रम की 1 से 6 इकाई में बहुत सी बातें विस्तार से जान सकते हैं । साथ ही इस इकाई के विषय को समझाने के लिये इकाई स 19 की सामग्री का अध्ययन भी अति आवश्यक है ।

मानवशास्त्रियों की दृष्टि में लोककला 'अतीत युग' से सम्बन्धित है । प्रागैतिहासिक व वैदिक युग से इसके सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं । जन साधारण की यह कला अपनी विशेषताओं के कारण ग्रामों तथा नगरों के जन-जन में ग्राह्य है । यह निरंतर प्रगतिशील, परिवर्तनशील, गहन मानव मूल्यों का अंकन करने की शक्ति भावनाओं और यथार्थ लक्षणों से युक्त है । "जन-जन' की 'जन-जन' द्वारा व 'जन-जन' हेतु निसृत कला ही लोककला है । लोक कला लोकमानस से प्रेरणा व पोषण प्राप्त करती

है और उसी को चित्रित करती है । हृदय की सरलता, सुबोधता व जन्मजात कौशल ही लोककलाकार का सर्वस्व है । उसे स्वयं के आंगन में ही उपयुक्त कला सामग्री मिल जाती है । लोककलाकार प्रकृति की अनुकृति न कर के नवीन रूपों की सृष्टि द्वारा सौन्दर्य के विविध पक्षों का उद्घाटन करता है । सृष्टि के प्रथम स्वर्णिम प्रभाव में जब मनुष्य ने प्रकृति के बनाव श्रंगार को देखा, तब सौन्दर्य के प्रति उसकी भावना जागृत हुई और लोक कला का जन्म हुआ । लोक कलाकृतियों में स्वयं तथा अपने वंश, जाति और देश के लिए वृद्धि समृद्धि व मंगल-कामना निहित

भारतीय समाज में लोककला के असंख्य उदाहरण प्राप्त है । घर अंगान की भित्तियों पर बने चित्र, सिन्धु नदी की सभ्यता के समय मिले कुछ मृण-पात्रों पर चित्रित लोक चित्रों में भी एक लोक परम्परा परिलक्षित होती है । अजन्ता के भित्ति चित्रों मैं अनेक ऐसे सूत्र छिपे हैं, जहाँ तत्कालीन लोककला की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है । राजपूत कला के विकास में लोककला के रंगों, तलव्यवस्था तथा फूल-पत्ती की सजावट का योग था । यह अलवर, मेवाड़, बून्दी, चम्बा व कुल्लू के कला वैभव से स्पष्ट है ।

सम्पूर्ण भारत में सुन्दर लोककला के रूप में गोवर्धन पूजा के लिए मिट्टी की मूर्तियाँ, कुमायूँ की पहाड़ियों में कार्तिक मास में शिव ओर उसके परिवार की मूर्तियाँ स्थापना हेतु बनायी जाती हैं । बंगाल में दुर्गा की मूर्ति, बिहार की मधुबनी चित्रकला, उत्तर प्रदेश के आलेखन, मेंहदी, मंडन, चौक-पूजन व मध्य प्रदेश के मांडने, दिवाली उत्सव पर भित्तियों में चौक सजाना आदि अनेक अलंकरण विधायें प्रचलित हैं ।

17.03 राजस्थान की लोककलाएँ : -

राजस्थान की भूमि जहां एक ओर वीर प्रसविनी रही वहां दूसरी ओर कला प्रसविनी भी । यहां की हस्तकलाओं का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना कि यहां के मानव का । बेचड़, गंभीरी, बनास, चम्बल आदि नदियों के तट पर आदिमानव द्वारा प्रयुक्त पाषाण इस कथन के साक्षी हैं ।

राजस्थान ललित कलाओं के क्षेत्र में भी बड़ा समृद्ध रहा है । प्रागैतिहासिक युगीन गिरिगुहा चित्र इस बात का प्रमाण है कि यहां का मानव सौन्दर्यानुभूति से अनुप्राणित होकर अपने निवास स्थान को सजाया करता रहा है । कालान्तर में इस मानव के उत्तराधिकारियों ने दैनिक प्रयोग के पात्रों पर चित्रकला की छटा देखनी चाही और मानव की सौन्दर्योपासना की प्रवृति को देखते हुए साधारण से कुम्भकार ने मृद्भाण्ड बनाते समय नाना प्रकार के आलेखनों को नित्य प्रति के प्रयोग के पात्रों पर स्थान दिया ।

लोककला लोकजीवन की थाती है । लोकमानस की झलक यदि कहीं देखने को मिल सकती है, तो वह लोकसंस्कृति में ही देखी जा सकती है । लोक संस्कृति एक विस्तृत खुला हुआ आकाश है जिसमें सामान्य जन की सही धड़कन टटोली जा सकती है । उसका सुख -दुःख, विचार, भावना उल्लास आदि का भण्डार लोकसाहित्य और लोककला में विद्यमान रहता है । सारा जन समुदाय लोकसंस्कृति का सहकारी निर्माता है, इसलिए उसका भोग भी सारा समाज ही करता है । वह किसी की निजी सम्पत्ति नहीं होती, उसका निर्माण पीढ़ी दर पीढ़ी होता रहता है । वास्तव में लोकसंस्कृति एक अनवरत बहती हुई पावन जनधारा है, जिसमें जनमानस अवगाहन कर अपने को जीवन्त बनाये रखता है । अंग्रेजी का फोक (Folk) शब्द भी इसी भाव का द्योतक है । हिन्दी में फोक के लिए लोक और जन शब्द

प्रचलित है । हमारे यहां लोक शब्द का प्रयोग उन लोगों के लिए होता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं होती वरन् सामान्य जनजीवन का खुला परिवेश ही उनकी पाठशाला होती है । ऐसी पाठशाला से सरल निर्विकार संस्कृति की धार साहित्य, संगीत, कला, नृत्य आदि में फूट पड़ती है और जनजीवन उससे अपने में ताजगी बनाये रहता है ।

लोकसाहित्य फोक लिटरेचर का अनुवाद होकर अंग्रेजी के अनुकरण पर हमारे यहां प्रयुक्त हुआ है । अनपढ़ ग्रामीण, आदिम जातियों का मौलिक रूप में प्राप्त साहित्य लोक साहित्य की कोटि में रखा जाता है । यह लोक वेद है जो किसी काल विशेष का न होकर युग-युग से चला आ रहा साहित्य है, जो हमारे जन-जीवन के बीच प्राय: मौखिक रूप में प्राप्त होता है । श्रुति परम्परा में पनपने वाला एवं विकसित होने वाला यह साहित्य 'बात ' एक 'लोकगीतों ' के रूप में अधिक उपलब्ध होता रहा है । लोकवार्ता, लोकनाट्य एवं लोकगीत के माध्यम से प्रस्फुटित लोकसाहित्य की जड़ें बहुत गहरी हैं । यही कारण है कि भारतीय विभिन्न' भाषाओं में उसका स्वरूप अधिकतर एक सा ही मिलता है ।

17.03.1 आलंकारिक कलाऐं : -

जहां तक राजस्थान की आलंकारिक कलाओं का प्रश्न है उनका भी इतिहास कम प्राचीन नहीं है । आदिमानव की अपने निवास स्थान की भित्तियों एवं छतों पर आलेखनों को स्थान देने की प्रवृत्ति ने ही कालान्तर में मांडणों को जन्म दिया । इसी प्रकार से आदिमानव की अपने हाथ, पैर तथा मुख पर यंत्र-तंत्र आलेखनों को स्थान देने की प्रवृत्ति ने कालान्तर में मेंहदी के आलेखनों को जन्म दिया।

राजस्थान का आदिमानव जहां अपने निवास स्थान को सुन्दर आलेखनों द्वारा सजाया करता था वहां दूसरी ओर अपने हाथ पैर व मुंह पर आलेखनों को स्थान देता रहा है । इस अलंकरण की प्रवृत्ति ने कालांतर में मानव को 'मेंहदी ' के आलेखन का मर्म समझाया और हमारे देश के प्राचीन साहित्य में षोडश श्रृंगार में मेंहदी आलेख द्वारा शरीर -का श्रृंगार भी प्रचलित हो गया । पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि मेंहदी द्वारा हथेली सजाना हमारे देश की महिलाओं ने बहुत इकई बाद में सीखा। सबसे पहले हमारे भारतीय साहित्य में 'लाक्षास ' का स्त्रियों द्वारा प्रयोग उल्लिखित है । राजस्थान में इसे 'महावड' कहते हैं और इसका प्रयोग केवल पैरों में किया जाता है । बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि में यह ' अलता ' कहलाता है । 'अलता ' 'आलक्तक' का अपभ्रंश है राजस्थान में अलता के स्थान पर मेंहदी का प्रयोग प्रचलित है । इसका' उपयोग हाथ की हथेली तथा पैरों में किया जाता है । मेंहदी के आलेखन राजस्थान में कब से प्रचलित हुये कहां नहीं जा सकता पर मेंहदी का उल्लेख 'चरक संहिता ' और 'सुश्रुत संहिता ' में ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुआ है । मेंहदी का प्रयोग ओषधि के रूप में इन दोनों ग्रंथों में किया गया है ।

राजस्थान में विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न आलेखों को अनेक रूपों में हथेलियों पर स्थान देने की प्रथा है । भारत वर्ष के अन्य प्रदेशों में मेंहदी के उतने आलेखन देखने को नहीं मिलेंगे जितने कि राजस्थान में । राजस्थान के मांडणे तथा मेंहदी के आलेखन उन आलंकारिक कलाओं में है जिनका उदय उन व्यक्तियों द्वारा हुआ जिन्होंने इनका सृजन बिना किसी शिक्षण में किया ।

प्राचीन शास्त्रीय धारणा के अनुसार 'चित्र ' के अंतर्गत मृण्मय कलाकृतियां राजस्थान की उन आलंकारिक कलाकृतियों में से हैं जिनके निर्माण में कलाकार को प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ी। प्रारम्भ में ये कलाकृतियाँ लघु रहीं किन्तु ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में सफेद खड़िया में रति कामदेव

आदि की मृण्मय कलाकृतियाँ बनीं । ईसा की तीसरी शताब्दी में तीन चार फीट की मृण्मय कलाकृतियाँ भी बनी । यह परम्परा भी समाप्त नहीं हुई और मोलेला में इस युग में भी मृण्मय कलाकृतियों के निर्माण का केन्द्र स्थापित हो गया । ये कलाकृतियाँ राजस्थान की लोककला को आलंकारिक कला के रूप में आज भी जीवित रखे हुए हैं । राजस्थान की दर्शनीय मृण्मय कलाकृतियों ने कालांतर में बच्चों के आधुनिक खिलौनों को जन्म दिया ।

मृण्मय कलाकृतियों ने पाषाण माध्यम से प्रस्तर मूर्तियों को राजस्थान में ईसा पूर्व की दूसरी शताब्दी में जन्म दिया और भरतपुर के नोह ग्राम में 8 फिट यक्ष प्रतिमा उस युग की आलंकारिक कला पर भी अच्छा प्रकाश डालती है ।

राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों से विभिन्न युगों की शास्त्रीय एवं लोकशैली पर आधारित जो प्रस्तर मूर्तियाँ मिली है, वे अपने में प्रदर्शित वस्त्र, आभूषण एवं केश विन्यास के आधार पर अच्छा प्रकाश डालती हैं ।

राजस्थान में नारियों द्वारा नखशिख श्रृंगार जितना अपनाया गया है उतना भारतवर्ष में कहीं भी देखने को नहीं मिलता है । इस नखशिख श्रृंगार को जीवित रखने में आभूषणों एवं रंगबिरंगे परिधानों का प्रमुख योगदान है । राजस्थानी स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त आभूषण चांदी और सोने दोनों में निर्मित होते हैं । यह आर्थिक स्थिति पर निर्भर होता है कि स्त्री चांदी के आभूषण प्रयोग करे या सोने के । आलंकारिक कला की दृष्टि से चांदी के आभूषण भी कम सुन्दर नहीं होते । ये आभूषण शरीर के सभी खुले अंग पर पहिनने योग्य होते हैं । जयपुर संग्रहालय में सुरक्षित चांदी से निर्मित एक गले का हार आलंकारिक कला का अच्छा नमूना है । इसी प्रकार विवाहादि मांगलिक अवसरों पर प्रयोग आने वाले सुगन्धिपात्र भी बारीक चांदी के तारों द्वारा बनाये गये । इसका एक सुन्दर नमूना भी जयपुर संग्रहालय में है ।

राजस्थान में सोने के आभूषण बनाने का कार्य भी बहुतायत में होता है । ये आभूषण नाना प्रकार की आलंकारिक कलाओं को स्थान देते हैं । कहीं कटाव का काम तो कहीं नगीने की जड़ाई कला को कुन्दन की कला कहते हैं । यद्यपि इस प्रकार का कार्य उत्तर प्रदेश के लखनऊ नगर में भी होता है पर जयपुर में जो कार्य होता है वह सुन्दर होने के साथ -साथ अधिक टिकाऊ होता है ।

राजस्थान में मीनाकारी का काम दो स्थानों पर होता है । एक तो प्रतापगढ़ में तथा दूसरे जयपुर में । सोने पर मीने का काम राजस्थान को मुगल कलाकारों की देन है । मुगल कलाकारों ने ही राजस्थान को कोफत व तहनिशान की आलंकारिक कला दी । इस आलंकारिक कला में लोहे की चद्दर में सोने के दारों को प्रविष्ट कर कलात्मक नमूनों को स्थान दिया जाता है । मुगल काल में यह कला ईरान से भारत के कलाकारों के सम्पर्क में आई थी । कोफ्त का काम मोटे प्रकार का काम है पर तहनिशान का काम बारीक तथा बड़ा ही कलापूर्ण कार्य है । इनके सुन्दर नमूने भी जयपुर संग्रहालय में प्राप्त होते हैं ।

सोने व चांदी के तारों के योग से गोटा निर्माण कार्य भी राजस्थान की अपनी विशेषता है । सोने व चांदी धातु के अतिरिक्त राजस्थान में तांबे व पीतल पर भी आलंकारिक कलाओं का अभ्यास हुआ । आहड़ आदि स्थानों पर की गई खुदाई के आधार पर हमें ज्ञात होता है कि राजस्थान में आज से लगभग 3700 वर्ष पूर्व तांबे के पात्र बनने प्रारम्भ हो गये थे । नोह में भी तांबे के प्रयोग का प्रमाण मिलता है पर पीतल पर कलात्मक कार्य मुगल व मुगलोत्तर काल में अपनाया गया । बड़े -बड़े पीतल के थालों पर बारह राशियों तथा समस्त नक्षत्रों को स्थान देने के साथ रामायण व महाभारत के उपाख्यानों के मुख्य-मुख्य दृश्य अंकित किये गये हैं । छैनी तथा हथौड़ी के योग से कटावदार पीतल में निवासियों

काम भी देखने को मिलता है । ऐसे कई फलक 19 वीं शताब्दी में बने जिनमें पीतल के माध्यम से फूल -पत्तियाँ काटी गई हैं और उनको काष्ठ फलक पर जड़ दिया गया । ऐसी कलाकृतियाँ राजप्रसादों व हवेलियों के मुख्य भवन की शोभा बढ़ाने के लिए तैयार की जाती थी ।

राजस्थान की नारियों के श्रृंगार में बहुमूल्य आभूषणों का ही योगदान नहीं रहा है वरन कम मूल्य वाले रंगीन कपड़ों का भी काफी योगदान है । रंगीन व कलापूर्ण रंगे कपड़े से राजस्थान की स्त्रियों का ही मोह नहीं रहा वरन् यहां के मूल निवासी पुरुषों का भी रहा है । राजस्थान कपड़े की रंगाई, छपाई व कढ़ाई के लिए भी देश व उसके बाहर प्रसिद्ध है ।

कपड़े की रंगाई करने वाले यहां 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्तर प्रदेश, दिल्ली व पंजाब से जयपुर आये और कालान्तर में वे राजस्थान भर में जाकर बस गये । उन्होंने बीकानेर, जोधपुर, जयपुर, चित्तौड़गढ़, उदयपुर, कोटा आदि में बस कर इतने प्रयोग किये कि राजस्थान की छपाई विश्वविख्यात हो गई । जयपुर के निकट सांगानेर में इस तरह की छपाई मशहूर है जिसमें लकड़ी के छापों से रंगों द्वारा छपाई की जाती है ।

रंगाई के क्षेत्र में रंगरेजों ने भी नये-नये प्रयोग किये । एक एक कपड़े की गांठ को रंग में भिगोकर कपड़े में नाना प्रकार के आलेखनों को जन्म देना यहां के रंगरेज का कमाल है । इसे बन्धेज का काम कहते हैं । इन्हें मोठडा या मोसडा चूनरी, लहरिया आदि की संज्ञा दी गई और ये सब इतने आकर्षक हुए कि इनकी मांग देश -विदेश में बढ़ती चली गयी।

छपाई व रंगाई के अतिरिक्त राजस्थान में बुनाई का काम भी कलात्मक ढंग से होता रहा है। यहां के गलीचे आलंकारिक कला के उत्कृष्ट नमूने हैं । जयपुर व बीकानेर का मुगल दरबार से संबंध होने के कारण 16 वीं शताब्दी में आमेर, बीकानेर में ईरानी गलीचों का प्रवेश हुआ तो उनको देखकर गलीचा बनवाने की ओर राज्यों का ध्यान गया । 17 वीं शताब्दी में जयपुर व बीकानेर में गलीचे बनने प्रारम्भ हुए और अजमेर, बीकानेर व जयपुर गलीचों के समृद्ध केन्द्र हो गये । राजस्थान में कढ़ाई का काम भी अच्छा हुआ है । जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर तथा शेखावटी की स्त्रियों ने सुन्दर- सुन्दर आलेखनों को कपड़ों पर काढ़ा तथा कढ़ाई के साथ-साथ छोटे-छोटे शीशे के गोल टुकड़ों को बीच में स्थान देकर नये-नये आलेखनों को जन्म देकर एक ऐसी आलंकारिक कला को जन्म दिया जो अब तक काठियावाड़ व राजस्थान के मरू प्रदेश की ही भारतवर्ष को देन स्वरूप है ।

जयपुर में चीनी मिट्टी पर नीला सफेद फुलवारी का काम मुल्तान के कलाकारों द्वारा लाकर अभ्यास में लाया गया । इस कला को सवाई जयसिंह ने प्रोत्साहित किया पर महाराजा रामसिंह ने आर्ट्स स्कूल की स्थापना करके इस कला की शिक्षा विधिवत दिलवाई और नाना प्रकार के छोटे-बड़े चीनी के नीले सफेद फूलपत्तीदार चित्र यहीं की विशेषता बनकर रह गये । देखने में ये पात्र चीनी के प्रतीत होते हैं पर ये मूलतः मिट्टी के ही हैं । इन्हें इस ढंग से पकाया जाता है कि वे पालिश करने पर चीनी के प्रतीत होते हैं । अन्दर में खोखली पर आकार में गोल, ढक्कनदार एक छोटी सुराही जो फूल -पत्तियों से सुसज्जित हैं ।

यद्यपि राजस्थान में हाथीदांत का काम ई.पूर्व की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था जैसाकि खुदाई से प्राप्त कुछ अवशेषों से ज्ञात होता है पर उत्तर मुगल काल में मुगल कलाकार इस कला को राजस्थान में लाये और हाथीदांत में कुराई का काम कई माध्यम से बहुत सुन्दरढंग से हुआ । इनमें खिलौने ही नहीं वरन् यन्त्र तथा कागज काटने के अलंकृत चाकू भी हैं । 19 वीं शताब्दी में भरतपुर,

उदयपुर व जयपुर इस कला के अच्छे केन्द्र रहे हैं । हाथीदांत के तार के पंखे सुन्दर और सुदृढ़ तलवारों और कटारों के लिये प्रसिद्ध हैं पर अस्त्रों पर सुनहरा काम जयपुर व अलवर में 18 वीं 1 9वीं शताब्दी में हुआ करता था । अब इस काम को करने वालों की संख्या कम है । लकड़ी पर सुन्दर काट व जाल का काम तथा उभरा काम जिसे अंग्रेजी में 'रिलीफ ' कहते हैं और जिसके द्वारा फूल, पत्नी, पेड़, पक्षी आदि के रूप में प्रदर्शन किया जाता है । शेखावाटी, बागडप्रदेश एवं बीकानेर में यह काम अधिक हुआ। लकड़ी की पुतलियां भी इस युग में अच्छी बनी । लकड़ी पर लाख के योग से रंगीन कलापूर्ण आखेलनों को स्थान देना भी यहां के कारीगरों का काम रहा है ।

कहां जाता है कि सिंध के कुछ कलाकार मुगल काल में मारवाड़ में पहुँचे और उन्होंने शीशे व लकड़ी पर लाख का सुनहरा कलात्मक कार्य प्रारम्भ किया । इन्होंने नये -नये आलेखनों को जन्म देकर अपनी कला का अभ्यास बीकानेर में ऊँट की खाल के बने पात्रों पर भी किया । ऊँट की खाल की बनी कुफी पर उभरा फूलदार काम करने के पश्चात् सुनहरे एवं रंगीन लाख के कार्य को स्थान देकर बीकानेर के कलाकारों ने ऐसा यश कमाया कि उनकी ख्याति संसार भर में फैल गयी । ऐसी नाना प्रकार की कृतियां राजस्थान के जयपुर व बीकानेर के संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रही हैं । (सम्बन्धित इकाईयों में इनका विस्मृति विवरण दिया गया है)

17.03.2 लोकगीत : -

लोकगीत लोकजीवन की सामूहिक अभिव्यक्ति है । व्यक्ति द्वारा निर्मित होते हुए भी ये गीत किसी व्यक्ति विशेष की थाती नहीं होते । सामाजिक प्रतिभाओं के पल्ले पड़ते ही इनका व्यक्ति या तो विलीन हो जाता है अथवा रुद्र रूप धारण कर लेता है । व्यक्ति तो मात्र गीत की रचना करता है, लोकगीत की नहीं । लोक का बाना तो उसे समूह पहनाता है । उसकी एक-एक पंक्ति, एक-एक बोल और एक-एक शब्द समूह की शोणठ पर चढ़कर कसता जाता है और उसमें नाना प्रकार के आरोह-अवरोह, कांट-छांट, संशोधन, परिमार्जन एवं परिवर्धन स्वत: ही होते रहते हैं । गीतों की यह क्रिया प्रक्रिया वर्षो तक चलती रहती है और अंत में जब वह सामाजिक परिधियों में रच -पच कर उनके अनुरूप सहज बन जाती है तो उसे 'लोकगीत ' की संख्या दी जाती है ।

इन गीतों में हमारी संस्कृति की संभ्रांत परम्पराएं अपने शाश्वत जीवन की रंगीनिया लिए अमरत्व का अतुल सौख्य लुटाती हैं । त्यौहार -उत्सवों के अवसरों पर चक्र, चुंदड़, लहरिया, पछेटा, चौपड़, घेवर, फूल, आम, रुपया, मुट्टिया, शंख, छाबड़ी, पान, पंखा, सात्विक आदि के लोकगीत गाये जाते हैं तथा इनके साथ प्रचलित ' 'बाई म्हारी मेंहदी पाछी दे '', मेंहदी राचणी रे लाल, पढ़णों- लिखणों छोड़ दो सजी निरखो गोरी रा हाथ; जैसे गीत बोल मेंहदी के महत्व को भली प्रकार चरितार्थ करते हैं।

गोबर की सहायता से चित्रित लोककला के अंकनों में सांझी के अंकन विशेष उल्लेखनीय हैं। ये अंकन श्राद्ध पक्ष में आश्विन की प्रतिपदा से लेकर पितृपक्ष के पन्द्रह दिनों तक बालिकाओं द्वारा चित्रित किये जाकर फूल-पत्रों से विविध रंगों में श्रृंगारे जाते हैं । सांझी के ये मंडल एक तारा से आरम्भ होकर पांच पछेटा, सूरज, चांद, बादरवाल, खजूर, केर, पंखा, चोपड़, सात्या, मोर, छाबडी, बीजणी, जनेऊ, निसरनी तथा संडया के बारात कोट के रूप में अपना विस्तार पाते हैं । इनसे सम्बन्धित राजस्थान में कई लोकगीत सुनने को मिलते हैं ।

वेशभूषा का एक उदाहरण पीलिया गीत में देखने को मिलता है । जिसमें पीलिया बंधवाने के लिए ठेठ दिल्ली से उसका पोत मंगवाया जाता है और उसे बांधने के लिए जयपुर का बघेरा बुलाया जाता है । यही नहीं उसके किनारे की बेलबूटों की बंधण, अंदर की बूटियां खाजो तथा पल्लों पर के पालव बंधाने के लिए उदयपुर का विशिष्ट रंगरेज बुलाये जाने की व्यवस्था की जाती है और इन सबके ऊपर अजमेर की कोर देने के लिए कोटा का बजाज बुलाया जाता है । उसके चारों किनारों पर मोर, पीपल आदि छपवाये जाते है और घूंघट पर पति का चित्र अंकित करवाया जाता है ताकि वह नित्य प्रति निहारती रहे और अपने आँखों से उसे कभी ओझल नहीं होने दें ।

दिल्ली सहर साहिबा पोत मंगायो
जयपुर सूं बंधारो बुलायो गाढ़ा मारू जी अल्ला तो पल्ला साहिब मोर पपीहा
घूंघट ऊपर नणदल बाई रो बीरो गाढ़ा मारू जी
एक रंगरेज उदयपुर रो मेवाड
ने नानी सी बंधण बंधावजो
एक बजाज कोटा रो बुलाने
कोर अजमेरी देवाडो गाढ़ा मारू जी

सौत तो मिट्टी की भी बुरी होती है । लोकगीतों में इन सौतों की भी खूब खबरें ली गईं हैं । एक गीत में यह भावना इस प्रकार व्यक्त की गई है ।

आगे ढोलाजी पाछे मारूणी
दोई मिल दरजी रे जाय
दरजी रा बेटा भाईडा फूलडा री अंगिया सिवाड
असरू तो मसरू सींन देबू बाईसा

फूलडा री सीवीं न जाये
टूक्या पर लिख मौजी साहिबा
खड्या पे माप मौसाल
बायां पर लिख पीयर सासरो
नित उठ देखूं पीयर सासरो
नित उठ देखू मौसाल
नित उठ देखूं मोजी सायबो
नजरयां नी देखूं सौक ।

आगे पति और पीछे पत्नी दोनों दर्जी के पास गये और फूल की अंगिया बनाने को कहां । दर्जी ने कहां बाईसा रेशम की तो आंगिया बना सकता हूँ पर फूलों की आंगिया तो नहीं बन सकती। इस पर वह बोले मेरे लिये रेशम की ही सही, एक ऐसी अंगिया बना जिसमें वक्षस्थल पर मेरे रसिक पति को, पसवाडों पर ननिहाल वालों को तथा दोनों बाहों पर पीहर तथा ससुराल वालों को चित्रित करना और मेरी सौत को पीठ की तरफ कसनों में सी देना । उसे पहन प्रतिदिन में अपने पति, पीहर, ससुराल तथा ननिहाल वालों को निरखा करूंगी मगर सौत को कभी फूटी आंख से भी नहीं देखूंगी । लोककला की ये भावमयी रमणीय आकृतियां आज तो साड़ी लेहंगा से लेकर सलमा सितारों, मिट्टी के खिलौनों,

ऊनी, सूती वस्त्रों, धातु, प्रस्तर तथा पुस्तक -पुस्तिकाओं जैसे सेकडों रूपों में अंकित होकर अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त कर रही हैं ।

लोकगीत हमारी कला संस्कृति के वे आधारभूत स्तम्भ हैं जिनमें हमारे गृहस्थ, परिवार, समाज तथा राष्ट्र की भावात्मक एकता के प्रतीक हमारे धर्म, कर्म, रुढि, विश्वास, रहन-सहन, खान -पान, राग -रंग तथा पहनावा आदि के जीवन एवं आदर्श रूप देखने को मिलते हैं ।

17.03.3 लोक चित्रांकन

राजस्थान विविध लोककलाओं का आगार है । लोकजीवन में इन कलाओं के प्रति जितनी चहल -पहल, रागरंगिता और आदिम रसता देखने को मिलती है । उससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कलाओं का पुष्ट पोषण कितना सहन, पारंपरिक सहज पीढीदायक और भारतीय लोकचेतना की अंत: करणी उजास प्रकृति लिये हैं ।

राजस्थान में यह परम्परा मुख्यत: छह रूपों में देखने को मिलती है

(अ) अंग चित्रांकन (ब) दीवाल चित्रांकन (स) आंगन चित्रांकन

(द) काठ चित्रांकन (य) पाठा चित्रांकन (र) फड चित्रांकन

ये सारी विधायें इतनी व्यापक तथा गहराई लिये हैं कि इनका समग्र अध्ययन संक्षेप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है । वैसे ये विषय अन्य इकाइयों में विस्तार से भी प्रकट हुए हैं ।

(अ) अंग चित्रांकन :-

शरीर के मांडनों में गुदने तथा मेंहदी के मांडने मुख्य हैं । गुदने जहां पूरे तन की शोभा सुन्दरता बढ़ाने वाले रहे हैं वहां मेंहदी हाथ पांव का प्रिय श्रृंगार रहा है । आदिम युग में जब मनुष्य छाल -खाल तक सीमित था । ये गुदने ही तब उसके आभूषण थे परन्तु धीरे - धीरे जब वह आवरण का सहारा लेता गया इन गुदनों का रिवाज कम होता गया । आंख-नाक, कपोल, ललाट, बाँह, कंधा, ठोडी, कलाई, हाथ, पांव, पीठ, पिण्डलियां, जाघें, घुटने, कोई भी जगह नहीं बची रहती कि जहां गुदना नहीं गोदा जाता ।

कई जातियों में ये गुदने भी संस्कार बन गये । कहीं ये साहस और शौर्य के प्रतीक, कहीं सौभाग्य के प्रतीक, कहीं श्री सम्पन्नता के प्रतीक, कहीं अगले जन्म की सुखदाई के कोमल भावों के प्रतीक । चांद, सूरज, तारे, मोर, कोआ, चिड़ - कलिया, वृक्ष, लताऐं नागबिच्छू, सातिया, बिन्दी, त्रिकोण, बन्दर, गाय, घोड़ा, पगल्या, हनुमान, राम, कृष्ण, श्री भगवान, तथा प्रेमी -प्रेमिका के नाम, पंखा तीर आदि इन गुदनों में बनाये गये हैं । गुदने का काम महिलायें करती हैं जो गुदहनकारी

तथा लिलिहारी कहलाती हैं । राजस्थान में पहले आंक के दूध में काजल मिलाकर खेर-बबूलों के कांटे से टोंच-टोंच कर इकाई गुदने खणे जाते थे । अब तो बिजली का काम बड़ा आसान हो गया है । प्राय: प्रत्येक मेले में इसकी दुकानें आज भी लगती हैं ।

मेंहदी की गुणगाथा और उसका कमाल कई रूपों, कलाओं और गीत कथाओं में वर्णित हुआ हे । मेंहदी रंग ही नहीं देती है, जीवन देती है, सुहाग देती हैं, मेंहदी सर्वऋतु विलासी है । विशिष्ट बार - त्यौहारों पर तो इसके अंकनों की छवि विशेष रंग लुटा देती है । मेंहदी बड़ी चमत्कारी और असरकारी रही है । मेंहदी इन्द्र पुत्री कही गयी है । गीतों में वर्णन आता है कि इसका पेड़ सर्वप्रथम सुमेरू पर्वत पर उगा तथा वासुदेव ने इसे दूध से सींचा और बलराम ने इसकी देखभाल की ।

(ब) दीवाल चित्रांकन : -

दीवाल पर के अंकनों में साड़ी, धापे तथा विवाहोत्सव पर बनाये जाने वाले चित्र मुख्य है । साझी श्राद्ध पक्ष में कुंवारी लड़कियों द्वारा प्रतिदिन मुख्य द्वार पर गोबर से बनाई जाकर विविध रंगों द्वारा फूलों से सजाई जाती है । यह साझी मूलत: राजस्थान की देन है ।

हाथ की अंगुलियों का थापा मारकर दीवाल पर जो चित्र उकेरे जाते हैं वे धापे कहलाते हैं पर अब इसका अर्थ विस्तार होते -होते हाथ की अंगुली से जो चित्र विशिष्ट बार -त्यौहार पर व्रत कथाओं के साथ जुड़े कथानक लिये होते हैं, वे धापे कहलाते हैं । राजस्थान में गणगौर, शीतलापंचमी, करवाचौथ, आहोईछठी आदि के धापे प्रसिद्ध हैं । इन थापों से सम्बन्धित विशिष्ट कथाऐं, संस्कार तथा पूजा अनुष्ठान हैं । इन सब थापों की अपनी पीठिका है और अपना इतिहास है इनमें निहित मूलभाव हमारे आदर्श समाज और परिवार की प्रतिष्ठा है । यह धापे कुमकुम, मेहंदी, हल्दी, सिंदूर, गोबर, घी, दूध, कोयला आदि से बनाये जाते हैं । व्रत कथाओं के अतिरिक्त विवाह पर, बारात की विदाई पर लड़की के श्वसुर की पीठ पर उसकी माँग द्वारा कुमकुम का थापा दिया जाता है । दीवाल चित्रों का एक रूप वैवाहिक चित्रों का है जो द्वार पर रिद्धि-सिद्धि व मंगल कल्याण की भावना से बनाये जाते हैं । इनमें हाथी, घोड़े, ऊँट, गणिकायें, द्वार, रक्षक, गजानन, लक्ष्मी, बेलबूटे आदि बनाये जाते हैं ।

इन सभी पक्षों के विस्तृत अध्ययन के लिये इकाई स. 19 की सामग्री का भी अध्ययन करें। इसके अतिरिक्त उस इकाई में आंगन, काठ, पाना, एवं फड़ चित्रांकन का विवरण भी दिया गया है।

17.04 आधुनिक कला में लोककला -

आधुनिक कला को नई चेतना देने में इन लोककलाओं का कितना अभूतपूर्व योगदान रहा होगा। सब ओर से दृष्टिपात करने से लोककला का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत दिखायी देता है । वर्तमान में यह कला निरंतर संपूर्ण नित नूतन कला वैभव के साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रही है । अनेक प्रख्यात आधुनिक भारतीय चित्रकारों ने लोककला को आधुनिकता की ओर अग्रसर करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है ।

आधुनिक भारतीय चित्रकला में लोककला की प्रेरणा का शुभारंभ करने का श्रेय यामिनीरंजन राय को है । इनका जन्म 1887 में पश्चिमी बंगाल के बांकुरा जिले में हुआ । इनके अतिरिक्त गोवर्धन सेन, लक्ष्मण सेन, ज्योति भट्ट, शीला आडेन, सतीश गुजराल, एम. एफ. हुसैन, मनजीत बाबा आदि की कला में लोककला के दर्शन होते हैं । राजस्थान में भूरसिंह शेखावत, गोवर्धनजोशी की कला भी लोककला से प्रभावित रही है । इनके अतिरिक्त अनेक विख्यात कलाकारों को लोककला ने किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है । अनेक आधुनिक युवा कलाकार आज भी अपनी आधुनिक कलाकृतियों में लोक प्रतीकों व आकृतियों का समावेश कर उसे पूर्णता प्रदान करते हैं । यदि इसी प्रकार लोक कला को आधुनिकता की ओर ले जाने में प्रयास निरंतर चलते रहे तब निश्चय ही यह कला राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना उच्च स्थान प्राप्त करने में सक्षम होगी ।

17.05 सारांश

सारांश में यही कहां जा सकता है कि राजस्थान की लोककलाएँ गुण व परिमाण में देशभर की आलंकारिक कथाओं की तुलना में निजी स्थान रखती हैं । समय की मांग है कि इन कलाओं का पोषण किया जाए और इनके निजी रूप को विकृत होने से बचाया जाए ।

17.06 शब्दावली

ग्राह्ह	-	जानना
निसृत	-	बनायी गयी
मृण	-	मिटी के बर्तन
अलंकरण	-	आलेखन (डिजाइन)
कुम्भकार	-	कुम्हार
मृद्भाण्ड	-	मिटी के बर्तन
भोग	-	उपयोग
मृण्मय	-	मिटी से बनी हुई
खणे	-	बनाये
अमाडी	-	छोटी कूंची (ब्रश)
शाण	-	सामुहिक आवाज (समूह में गाना)

17.07 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लोक कला किसे कहते हैं । समझाइये । (150 शब्दों में)
2. राजस्थान में कौन-कौन सी लोककलाएँ प्रचलित हैं । सविस्तार बताइये । (500 शब्दों में)
3. आलंकारिक कलाओं से क्या अभिप्राय है । इसके अंतर्गत बनाई गई कलाओं के बारे में अपना मत दीजिये ।(500 शब्दों में)
4. लोक संगीत का लोककलाओं से क्या सम्बन्ध है । (150 शब्दों में)
5. आधुनिक काल में लोककलाओं का क्या स्थान है । (150 शब्दों में)

इकाई सं. 18 "चित्रकला-विभिन्न स्कूल एवं इनकी शैलियाँ "

इकाई संरचना

18.01 उद्देश्य
18.02 प्रस्तावना
18.03 विषयवस्तु और रूपांकन
18.04 राजस्थान की विभिन्न शैलियाँ
18.04.1 मेवाड़ अथवा उदयपुर शैली
18.04.2 बूंदी शैली
18.04.3 कोटा शैली
18.04.4 किशनगढ़ शैली
18.04.5 जयपुर शैली
18.04.6 अलवर शैली
18.04.7 मारवाड़ अथवा जोधपुर शैली
18.05 इकाई सारांश
18.06 अभ्यासार्थ प्रश्न

18.01 उद्देश्य

राजस्थान की चित्रकला आज विश्व विख्यात है तथा समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर है । इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप यह समझ पायेंगे कि : -

1. इस शैली की वास्तविक प्रकृति किस प्रकार की है ।
2. इसकी अपनी विभिन्न प्रकार की शैलियाँ हैं ।
3. इसका अपना मूल स्वरूप किस प्रकार का है व बाह्य प्रभाव ने इसे कहां तक प्रभावित किया है ।
4. इसमें विषय वस्तु, रंगों व जीवन शैली का चित्रण किस भांति हुआ है ।
5. सांस्कृतिक जन-जीवन में इसका क्या महत्व है ।

18.02 प्रस्तावना

भारत वर्ष मे अति प्राचीन काल में चित्रकला का विकास हो चुका था । सिन्धु सरस्वती सभ्यता में ठीकरों पर जो चित्रकारी हुई है वह पांच हजार वर्ष पूर्व का इतिहास है । वेदों के समय भी चित्रों का प्रचलन था । अजन्ता की गुफाओं की चित्रकला को देखकर लगता है कि प्राचीन भारत में चित्रकला अपनी चरम अवस्था पर थी । गुप्तकाल के पश्चात उल्लेखनीय चित्रकला के कम प्रमाण प्राप्त होते हैं । मध्य काल में मुगलकाल में चित्रकला का रूप फिर निखर उठा । लेकिन जो नींव बाबर ने डाली और अकबर तथा शाहजहाँ ने उस पर महल खड़ा किया. औरंगजेब ने उसे नहीं सराहा । फलस्वरूप मुगल दरबार के कलाकार इधर उधर जाने लगे । राजपूताने के रजवाड़ों ने इन भटके हुए कलाकारों

को हाथों हाथ उठा लिया । अब चित्रकला राजस्थान में पनपने लगी । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वह काल राजस्थान में चित्रकला का प्रारम्भिक काल था । राजस्थान में चित्रकला का प्रारम्भ उससे पहले ही हो चुका था । उदाहरणार्थ मेवाड़ में प्राचीन के काल से ही जैन शैली के प्रभाव के चित्रों का परिचय मिल लगता है । पांचवी शताब्दी में जैन शैली का पूरा जोर था । निकटवर्ती क्षेत्र होने के कारण मेवाड़ में जो चित्रकला पनपी उसमें जैन शैली की पूरी छाप पड़ी ।

मध्यकाल में 17 - 18 वीं शताब्दी तक मेवाड़ व राजस्थान के अन्य संभागों में चित्रकला का विकास हो चुका था । परम्पराओं विषय विशेषज्ञों में इस संभाग की चित्रकला के नामकरण को लेकर भी विवाद है । कुछ इसे राजपूत चित्रकला कहते है तो अन्य राजस्थानी चित्रकला । राजपूत चित्रकला में कांगड़ा व भारत के उत्तरांचल क्षेत्र की चित्रकला को भी सम्मिलित रूपरेखा " कर लिया जाता है क्योंकि वहां के शासक जिनके संरक्षण में यह चित्रकला विकसित हुई थी, स्वयं को राजपूत कहते हैं। इस दुविधा से दूर होने के लिये सहज है कि राजस्थान की चित्रकला को राजस्थानी चित्रकला कहकर सम्बोधित किया जाये ।

स्थानीय परिवेश, भौगोलिक स्थिति, जैन शैली एवं मुगल शैली के योग से, राजस्थान में विभिन्न शैलियों का जो विकास हुआ उसे देख कर सारा विश्व विमुग्ध हो उठा । राजस्थानी चित्र शैलियों में मुगल शैली का प्रभाव तो था किन्तु अन्तर भी बहुत था । मुगल शैली अगर शरीर थी तो राजस्थानी शैली आत्मा । यहां के चित्रकार फोटो ग्राफर न होकर सही अर्थों में चित्रकार थे । राजस्थानी शैली की भावधारा अजन्ता के उत्स से फूट कर आगे बढ़ी । राजस्थानी चित्रों के विषय में अबुल -फजल का कथन है कि वस्तुओं के विषय में हमारा जो ज्ञान है ये चित्र उससे बहुत आगे का संकेत करते हैं । भारतीयता के संयम, वैराग्य, पवित्रता और योगाचार तथा कोमलता और क्रोध सबका सम्यक प्रतिनिधित्व इन चित्रों में हुआ है । राजस्थान के राजाओं के मुगल दरबार एवं संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग होने के नाते मुगल -राजपूत सांस्कृतिक समन्वय की नींव पड़ी थी ।

18.03 विषय वस्तु एवं रूपांकन

राजस्थान में अलग अलग रियासतों की अलग अलग शैलियाँ पनपी और अन्ततः उन्हीं रियासतों के नाम से प्रसिद्ध हो गई । चित्रकला को यहां के राजाओं द्वारा भी बहुत प्रोत्साहन मिला है । जयपुर के महाराजा प्रताप सिंह ने चित्रों में एक नया प्रयोग किया जिसमें सच्चे मोती -माणक और पन्ना आदि रत्नों के छोटे -छोटे नग चिपका दिये जाते थे । उठे हुए सोने के अलंकरणों में यह प्रयोग अच्छा भी प्रतीत होता था, इनका रेखा सौन्दर्य बहुत सुन्दर था । इसी प्रकार जयपुर के ईश्वरी सिंह, रामसिंह, कोटा के छत्रसाल, बूंदी के रामसिंह, उदयपुर के संग्राम सिंह द्वितीय, अमर सिंह, भीम सिंह, जोधपुर के बख्तावरसिंह, बीकानेर के सूरत सिंह, आदि नरेशों तथा किशनगढ़ के नागरी दास, मीराबाई तथा बल्लभकुली गोंसाईयो ने चित्रकला को समृद्ध बनाया था और भक्ति रस की वह धारा बहा दी थी जिसमें सारा राजस्थान रंग गया । और चित्रों में राधा -माधव का एकाधिपत्य हो गया । तुलसी के राम भी चित्रों के विषय बनकर घर -घर पहुँच गये ।

आगे की ओर निकले हुए वातायनों के शिखर, उनके स्वर्ण -मण्डित कलश, विचित्र अलंकारिक आकृतियां उत्कीर्ण हुए छोटे भवनों में कलेवर, छोटी -छोटी जालियाँ, तोरण द्वार भित्तियों पर के रेखाचित्र बड़ा महत्व रखते हैं । चित्र, तलवार, घोड़ा, राम और रत्न के पारखियों की गणना राजस्थान

के सभ्य समाज में आदरणीय समझी जाती थी। प्रत्येक घर में आवश्यकीय वस्तुओं में चित्र भी स्थान पाते थे। जो ग्रह चित्रित न हो वह मनहूस व अशुभ संज्ञा में आ जाता था। राजस्थानी चित्र भावत्व प्रधान नहीं होते, अभिव्यंजना प्रधान और सृजनात्मक शक्तिमत्ता के सू होते हैं। वे विशद नहीं संक्षिप्त हैं - वे प्रकृति तत्व के कथन नहीं उसमें निहित रस माधुरी में संचय कारक हैं। वे स्वयं सौन्दर्य नहीं सौन्दर्य तत्व में अर्न्तनिहित आन्दोद्गम के संक्षिप्त संकेत हैं। वे श्रम साध्य नहीं वे क्षणों में होने वाले सौन्दर्य संचरण के इतिवृत्त हैं -उनमें यथार्थता ढूंढना वैसा ही है जैसे मधु में कोई फूल के पराग का अन्वेषण करें।

मध्यकाल में कुशवाहे, राठौर, चौहान (गहाडा, देवड़ा) और सिसोदिया, (गुहिलोत) इन चार वंशों ने राजस्थान के अधिक भू- भाग को अपने अधिकार में किया और इन्हीं के चार प्रधान नगर राजस्थान की कला के चार प्रधान पीठ बने। ये प्रान्त, हाड़ौती, मेवाड़, मारवाड़, और ढूंढार के नाम से विख्यात हैं तथा जयपुर, जोधपुर, बूंदी, उदयपुर. राजस्थानी कला के उद्‌गम केन्द्र थे। इन्हीं चार प्रधान केन्द्रों से अनेक छोटी -छोटी सहगामिनी या सहायक शाखायें बनी जो इस प्रकार हैं : -

बूंदी कोटा एक सूत्र में, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, नागौर और किशनगढ़, एक में। उदयपुर, मेवाड़, नाथद्वारा, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, एक सूत्र में और जयपुर, करौली, अलवर, और भरतपुर एक सूत्र में। इस प्रकार राजस्थानी शैली केवल राजस्थान में - - - --------------से अपनी एक मर्यादा, एक विशेषता है। विविध धर्मो ने भी कला को पुष्ट किया, इसका प्रमाण है कि कोटा और बूंदी के हाड़ा बल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी इकाई थे, जोधपुर के राठौड़ नाथ सम्प्रदाय के शिष्य थे, कुशवाहे शाक्त एवं फिर वैष्णव बने, सिसोदिया शैव तथा किशनगढ़ के राठौर बल्लभ के पुष्टि मार्गीय मत के अनुयायी थे। इन सभी धर्मो ने अपने अपने पूज्य को साकार उपासना की श्रेणी में लाने के लिए चित्रकला का आश्रय लिया। इन सब में बल्लभ सम्प्रदाय की उपासना अधिक सगुण थी। ' कोटा, किशनगढ़, उदयपुर, जोधपुर, जयपुर जो बाद में बल्लभ कुलीय वैष्णव हो गये थे, चित्रों में अधिक रस लेने लगे। श्री कृष्ण चरित्र की विविध प्रवृत्तियों को जो श्रृंगार प्रधान थी, साकार देखने में लीन हुऐ। भगवान श्री कृष्ण की पर माधुरी लीला ने यहां के राजपूतों पर अत्यधिक प्रभाव डाला। यही कारण है राजस्थान की लगभग प्रत्येक शैली में राधाकृष्ण का किसी न किसी रूप में अंकन हुआ है। उदयपुर शैली में भागवत की कथा पर तथा कृष्ण लीला पर एवं जयपुर, कोटा और किशनगढ़ शैली में कृष्ण चरित्र पर ढेर सारे चित्र बने इसके अतिरिक्त चित्रों के विषयों पर, स्थानीय परिवेश एवं शासकों की रुचि का भी विशेष प्रभाव पड़ा। राजाओं की रसिकप्रिय प्रवृत्तियों ने भी विभिन्न कलाओं को प्रभावित किया। जोधपुर शैली में 'ढोला -मारू' की प्रेमकथा चित्रों में अवतरित हुई है। उदयपुर शैली में महाकवि बिहारी की कविताएं एवं पंचतंत्र की कथाऐं साकार हुई तो नाथद्वारा शैली में सूर की बाल लीलाएं मचल उठी। जयपुर शैली में राग-रागनियों पर ढेर सारे चित्र बने। किशनगढ़ शैली में संयोग श्रृंगार एवं मान-मिलन के भाव पर चित्रांकन हुआ।

राजस्थान के चित्रकारों ने चित्रों की प्राकृतिक पृष्ठभूमि को सजाने के लिए प्रकृति में फैले अनन्य साधनों का प्रयोग किया। लता, वृक्ष, पर्वत, सरोवर, पुष्प, चन्द्रमा, तारागण, आदि के अतिरिक्त सत्रह

प्रकार के पक्षी, नौ प्रकार के पशु, एवं चार प्रकार के कीट पतंगों को चित्रांकित किया है । इन विषयों का प्रयोग स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार किया गया है ।

राजस्थानी चित्रकारों ने शरद शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म एवं वर्षा आदि ऋतुओं को खूब अंकित किया है लेकिन बादलों का अंकन विभिन्न शैलियों में अलग- अलग प्रकार का रहा है । बीकानेर शैली में बादल छल्लेदार, झालर की तरह झूलते हुए; जोधपुर शैली में गोलाकार बने बादलों में विद्युत रेखायें चमक रही है तो उदयपुर शैली में आकाश एकदम घना और नीला दिखाया गया है । नाथद्वारा शैली में अत्यधिक काले बादल है तो जयपुर शैली में नीले; बूंदी शैली में सुनहरी, लाल पीले रंग के बादल हैं तो कोटा शैली में उमड़ते -घुमड़ते घने बादल ।

राजस्थानी चित्रों का विषय काफी विस्तृत रहा है । विभिन्न प्रकार की राग-रागनियां यथा भैरव, मालकोष, हिन्डौल, दीपक, श्री एवं मेघ के तथा विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक वर्ग के स्त्री पुरुषों के भी चित्र काफी मात्रा में बने ।

राजस्थान के कलाकारों ने पुरुषों को वीर एवं स्त्रियों को सुन्दर सजीली एवं लजीली अंकित किया है । चित्रों में अंकित तृण देखने में इतने चेतन लगते हैं कि नववधु के पैरों की आहट तक उन्हें सुनाई दे जाती है । तब भला रमणी में चेतनता क्यों न हो । कलाकारों ने नारी सौन्दर्य को विभिन्न प्रकार से परखा है एवं चित्रित किया है । पुरुषों को भी लगभग 15 प्रकार के वस्त्र एवं 14 प्रकार के आभूषणों से युक्त दिखाया गया है ।

18.04 राजस्थान की विभिन्न शैलियाँ : -

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि राजस्थान के विभिन्न संभागों में चित्रकला की शैलियाँ अपनी- अपनी विशिष्टता को लेकर प्रस्तुत हुई है; जिनके कारण भी उनकी परिस्थितियों में हैं उन सभी का विवरण इस प्रकार से है : -

18.04.1 मेवाड़ शैली

राजस्थानी चित्रकला में ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से मेवाड़ शैली का प्रमुख स्थान है । मेवाड़, (उदयपुर) प्रारम्भ से ही कलाओं का प्रेरणा स्रोत रहा है । प्राचीन मेवाड़ और उदयपुर राज्य में परियोजित चित्रकला आज मेवाड़ शैली के नाम से जानी जाती है । गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है - ' 'वल्लभीपुर के गुहिल वंशीय राजाओं के साथ कलाकार वहां से सर्वप्रथम मेवाड़ में आए और उन्होंने अजन्ता परम्परा को प्रधानता देना शुरु किया । स्थानीय विशेषताओं से मिलकर यह परम्परा अपना स्वतंत्र रूप बना सकी जिसे हम मेवाड़ शैली कहते हैं । राजस्थान में फैलने वाले इस प्रभाव को हम जन शैली, गुजराती शैली, पश्चिमी भारतीय शैली तथा अपभ्रंश शैली आदि कुछ भी कह दें, इसमें सन्देह नहीं कि 7वीं से 15 वीं सदी तक अविरल रूप से यहां मौलिक कला तथा अजन्ता परम्परा की कला के सामंजस्य से पैदा होने वाले सिद्धान्तों के अनुकूल चित्रकला, मूर्तिकला तथा शिल्प की उन्नति होती रही, इस धारा को पहल करने का श्रेय मेवाड़ को ही है ।

मेवाड़ का इतिहास वीरता, अस्तित्व की रक्षा, कलाओं का संरक्षण आदि के लिए प्रसिद्ध रहा है । विपत्तियों, बाधाओं के और युद्धों से आक्रान्त मेवाड ने धर्म और कलाओं की जो रक्षा की है, वह अविस्मरणीय है । किन्तु निरन्तर मुगलों से निवासियों जूझते रहने के कारण प्रारम्भिक मेवाड़ी चित्रकला

का इतिहास अनेक भ्रान्तियों से भरा पड़ा है । राजस्थानी चित्रकला के उद्भव और विकास में मेवाड़ शैली का स्थायी स्थान है । मेवाड़ के इतिहास में राणा कुम्भा (1433-1468) का है युग महत्वपूर्ण है उस शासक ने जहां एक अनेक युद्ध जीते वहीं दूसरी ओर कला एवं साहित्य को संरक्षण दिया । राणा सांगा का जीवन भी अनेक शक्तियों से लड़ते बीता और वह 80 घावों का नायक कहलाया । राणा सांगा जो अन्ततः सम्राट बाबर से अपनी वीरता की कहानियाँ पीछे छोड़ गया । उनकी पुत्रवधू मीराबाई ने राजस्थान में कृष्णभक्ति की जो रसधार बहाई वह अनमोल है । कलाओं का केन्द्र स्थल चित्तौड़ बार-बार के युद्धों में जर्जरित हो गया और उदयसिंह ने सामरिक महत्व के कारण उदयपुर को अपनी राजधानी बनाया। महाराणा प्रताप ने मुगलों की अधीनता कभी नहीं स्वीकारी और चांवण्ड को अपनी राजधानी बनाया। इस प्रकार चित्तौड़, चांवण्ड, और उदयपुर मेवाड़ी चित्रकला के प्रमुख केन्द्र बने । अमरसिंह प्रथम ने मुगलों की आंशिक अधीनता स्वीकारी जिसके कारण मुगल कला का प्रभाव मेवाड़ शैली पर आया, जो करणसिंह और जगतसिंह प्रथम के समय में गहराता गया । महाराणा राजसिंह जिसका औरंगजेब से संघर्ष प्रारम्भ हो गया, ने प्रसिद्ध श्रीनाथ जी की मूर्ति को नाथद्वार में स्थापित कर वैष्णव धर्मप्रियता का परिचय दिया । राजसिंह कला प्रेमी, पुष्टि संप्रदायी और विद्वान राजा था । उसके समय में कलाओं ने अत्यधिक विस्तार पाया । उसके उत्तराधिकारी जयसिंह (1680- 1691) तथा अमरसिंह द्वितीय (1698- 1710) ने मेवाड़ की इस कला परम्परा को आगे बढ़ाया ।

उपर्युक्त तथ्यों से भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी चित्रकला के विकास में मेवाड़ का प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण योगदान रहा है । इतिहासकार श्री तारानाथ ने भी 7 वीं सदी में मारवाड़ के विख्यात चित्रकार श्री रंगधर द्वारा चित्रकला का स्थापन माना है । किन्तु तत्कालीन चित्र अनुपलब्ध है । अब तक की गई खोज के आधार पर मेवाड़ शैली का प्रथम उदाहरण 'श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णी' नामक सचित्र ग्रंथ है जो अहाड़ में सन् 1260 में गुहिल तेज सिंह के राज्यकाल में चित्रित हुआ । इस शैली की विशेषता में सवाचश्म गरुड की नासिका, परवली फॉके से नेत्र, घुमावदार अंगुलिया, लाल- पीले रंग का प्राचूर्य आदि प्रमुख हैं । इसका उदाहरण हमें ‘सुपार्श्वनाथ चरियम' के प्राप्त होता है । जो सन् 1422-23 का लिखित है । इसमें राजस्थानी चित्रण की भावभूमि व उपर्युक्त विशेषताओं के साथ जैन एवं गुजरात शैली का पूर्ण प्रभाव है ।

16 वीं शताब्दी में महाराणा प्रताप की राजधानी चावण्ड चित्रकला का प्रमुख केन्द्र रही । 1605 में चित्रित प्रसिद्ध रागमाला सेट' चावण्ड़ में ही चित्रित हुआ जिसमें लोककला का पूर्ण प्रभाव और मेवाड़ शैली का स्वरूप अंकित है । 1640 में चित्रित नायक नायिका भेद संबंधी चित्रण मेवाड़ शैली का ही उदाहरण है । इसमें मुगल शैली का आंशिक प्रभाव दर्शनीय है ।

17 वीं शताब्दी के मध्य में महाराणा जगत सिंह के काल के मेवाड़ शैली से अनेक सचित्र ग्रंथ प्राप्त है । बल्लभ संप्रदाय के राजस्थान में प्रसार के कारण राधाकृष्ण लीलाएं मेवाड़ शैली की प्रमुख देन रही है । अतः भागवत पुराण चित्रण का प्रमुख आधार ग्रंथ बन गया । इसे अतिरिक्त सूरसागर रसिक प्रिया रागमाला, रामायण आदि का चित्रण भी मेवाड़ शैली में उपलब्ध है । महाराणा जगतसिंह (1628-52) तथा राजसिंह (1652-81) का समय मेवाड़ी चित्रकला के विकास की दृष्टि से स्वर्णयुग माना गया है । राजसिंह के बाद जयसिंह (1681 - 1698) ने कलात्मक परम्परा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया । तदुपरान्त मेवाड़ शैली धीरे-धीरे पतनोम्मुख होने लगी ।

मेवाड़ शैली की कुछ प्रमुख विशेषताएं रही हैं जिन्होंने राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों को भी प्रभावित किया है । प्रारम्भिक मेवाड़ शैली में जैन और गुजरात शैली का चित्रण दृष्टव्य है । साथ ही लोककला की रूक्षता, मोटापन, रेखाओं का भारीपन आदि मेवाड़ शैली की विशेषता रही है । किन्तु 17 वीं शताब्दी के मध्य में मेवाड़ शैली का स्वतंत्र स्वरूप अपनी विशेषताओं को लेकर उभरने लगा ।

पुरुषाकृति गठीली मूछों से युक्त, भरे चेहरे, विशाल नयन, खुले हुए अधर, छोटी ग्रीवा, उदयपुरी पगड़ी, लंबा साफा, कमर में दुपट्टा और सामान्य अलंकारों से आवृत शरीर मेवाड़ शैली की विशेषताऐं हैं । स्त्रियों के चित्र सरलता के भाव लिए मीनाकृत आँखें, सीधी लम्बी नाक तथा भरी हुई दोहरी चिबुक, ठिगना कद, लूगड़ी घाघरे और विभिन्न टेठ राजस्थानी आभूषणों से आवेष्ठित होती है ।

प्रकृति का संतुलित चित्रण, मेवाड शैली में दृष्टव्य है । पक्षियों में चकोर, हंस, मयूर, और पशुओं में हाथी, घोड़ा, हरिण, सिंह, आदि विशेष चित्रित हुऐ हैं । मेवाड़ शैली में रंगों की अपनी सरलता है । लाल, हरी, और पीली धरती पर अधिकतर चित्र बने हुए हैं । शारीरिक रंग भी अधिक उज्ज्वल न होकर श्याम, ताम्र और नील वर्ण के होते हैं । सादे लाल तथा काले रंग के खतों से आवेष्ठित मेवाड़ शैली के चित्र भले लगते हैं । तड़क भडक या अलंकरण मेवाड़ विभिन्न शैली में बहुत कम है ।

'मेवाड़ शैली में पोथीग्रन्थों का चित्रण सर्वाधिक मिलता है । प्रारम्भ में जैन ग्रन्थों से लेकर पुराण, राधाकृष्ण की लीलाओं संबंधी ग्रंथों, जैसे ' भागवत, सुरसागर, आदि तथा नायक नायिकाओं भेद संबंधी ग्रंथ जैसे 'रसिकप्रिया ' 'बिहारी - " सतसई ' रागरागिनी 'बारह मासा ' का चित्रण विशेष द्रष्टव्य है । कृष्णलीला का तो मेवाड़ शैली में विस्तार से अनेक रूपों में चित्रण हुआ है । रामायण भी मेवाड़ स्कूल का प्रमुख आधार ग्रन्थ रहा है ।

18.04.2 बूंदी शैली

राजस्थान की चित्र परम्परा में बूंदी की चित्रकला का स्थान कलात्मक दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है । इसका कारण प्रथम तो बूंदी की भौगोलिक स्थिति है और द्वितीय राजाओं का कला विषयक प्रेम अथवा राज्याश्रय कहा जा सकता है । इससे भी बड़ा एक कारण है बल्लभ संप्रदाय की धार्मिक प्रवृत्ति, जिसमें कृष्ण लीला की श्रृंगारिक भाषाओं और वात्सल्य रस को अनेक रूपों में महत्व दिया गया है । इससे चित्रों की विषयवस्तु तथा प्रसंगों को बड़ा बल मिला है ।

इस शैली का उद्भव एवं विकास राजस्थान के दक्षिण -पश्चिम में बूंदी की रियासत में हुआ, जो अपने आप में पर्याप्त ऐतिहासिक महत्व का स्थान रहा है । केवल एक दो को छोड़ यहां के राजा प्राय: चित्रकला के पारखी और प्रेमी हुए हैं । हाड़ा चौहानों का यह राज्य जो मुगल सम्राट शांहजहाँ के काल में इससे कोटा अलग बनने से छोटा पड़ा, अपनी वीरोचित गतिविधियों के लिये सदैव चर्चा का केन्द्र रहा है । राजा रामसिंह जो सन् 1821 में पैदा हुऐ । चित्रकला के अत्यन्त प्रेमी थे । राव गोपीनाथ, छत्रसाल, बिशनसिंह आदि बूंदी के और भी राजा कला की उन्नति में सहायक हुये ।

बूंदी के चित्रों में राजस्थानी संस्कृति का विकास पूर्ण रूप से दृष्टिगत है । नायिका भेद के चित्रों में यहां के चित्रकारों ने बडी कुशलता दिखलाई है तथा कल्पना को इतना विस्तार दिया है कि विषय का प्रत्येक पक्ष स्पष्ट करके दिखाया है । बूंदी के चित्रों में शिकार, सवारी, उत्सव और वे सामयिक

दृश्य भी अंकित मिलते हैं जो तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का परिचय देते हैं । राजाओं की इच्छा के अनुकूल जो चित्र बने हैं, वे प्राय: शिकार, दरबार और उत्सव आदि के चित्र हैं । कृष्ण लीला की कुछ ऐसी कृतियां भी चित्रकारों की तूलिका से निखरी, जो किसी कविता के आधार पर न होते हुऐ भी स्वयं कविता का विषय थी । बूंदी के रेखाचित्र रंगों की सहायता भी नहीं चाहते । वे रेखाओं में ही बोल उठते हैं और दर्शक को अपने अर्थ गौरव का परिचय देने लगते हैं । रेखाओं पर ऐसा एकाधिकार बूंदी के चित्रकारों का था ।

बूंदी की आकृतियां साधारण लम्बी, शरीर पतले, और स्फूर्ति से भरे रहते हैं । स्त्रियों की मुखाकृति में अधरों की छटा विचित्र प्रकार का सौन्दर्य दिखलाती है । अधर इतने अरुण रहते हैं कि वे एक काली पतली रेखा से विभाजित किये जाते हैं । नेत्र अर्द्ध विकसित, तीखे और ऊपर एक रेखा के गोलार्ध में घनी कालिमा के साथ चित्रित रहते हैं । भ्रू- प्रदेश घना, प्राय: सीधा या किन्चित झुका हुआ होता है । नासिका साधारणतया छोटी मुख गोलाकृति ओर चिबुक पीछे की ओर झुकी, छोटी होती है । ग्रीवा छोटी और अलंकारों से आच्छादित रहती है । बाहु लतायें लम्बी, तथा अंगुलियां मेंहदी की लालिमा से अत्यधिक चित्रित रहती है । वक्ष आगे निकला हुआ तथा कचुंकी से कसा हुआ कटि क्षीण उदर खिंचा हुआ और पतला होता है ।

वस्त्रों में सुवर्ण के आलेखन इतना झीने एवं पारदर्शी बनाये जाते हैं कि शरीर निरावरण सा दिखलाई देता है । काले रंग के लहंगे, लाल चूनरी और कंचुकी प्राय : देखी जाती है । बेणी पृष्ठ भाग से नीचे तक झूलती जिसमें तीन या एक फुंदना रहता है । अलकावलियां उड़ती हुई कभी कपोलों पर और कभी ग्रीवा के नीचे तक आ जाती है । अलंकारों में वस्तुओं के नीचे तक झूलते सुनहरी झुमके, अंगूलियों में हाथफूल, ललाट तक नीचे लटकती जड़ाऊ बिन्दी, नथ में छोटे -छोटे मोती, कपोलों पर चिपके से दिखलाये जाते हैं ।

पुरुषों की आकृति में नीचे की ओर झुकी पगडिया लम्बे घुटने तक या उससे भी नीचे जामें, कमर में दुपट्टा तथा पांवों में चुस्त पाजामा रहता है । कानों में मोती कपोलों तक नीचे उतरती जुल्फें, बड़ी मूंछे तथा राजसी वेशभूषा से सुसज्जित ललाट कुछ गोलाकार अधर स्त्रियों जैसे ही चिबुक छोटी तथा नेत्रों के भाव एक जैसे होते हैं । कुसुमों की मालाएं, मोतियों के हार तथा कितने ही जड़ाऊ अलंकरण पुरुषों के शरीर पर भी दिखाये जाते हैं ।

चित्रों के विषय राग -रागनियां, नायिका -भेद, ऋतु, मास तथा कृष्ण लीला के भेद होते हैं। बूंदी के चित्र लालहिंगुल के चमकदार ताशियों सहित बाहर और भीतर सुवर्ण रेखाओं से सीमित हैं । इसका प्रथम आकर्षण है आकाश, जिसमें सोने का आलेपन और बीच बीच में सिन्दूरी रंग के बादले की गोलाकार रेखाऐं तथा उसके ऊपर की सीमा तक अत्यन्त नीलाभ दिखाया जाता है । श्वेत रंग भवनों के चित्रण में प्रयुक्त किया गया है जिस पर विविध आलेखन रहते हैं ।

बूंदी के चित्रों के चित्रों है प्राय : विरहोत्कंठा राधा के रूप को ही अधिक प्रकाशित किया गया है । यदि बूंदी का चित्र मर्मज्ञता के लिए रखा जाय तो चित्र में अनेक आशय ऐसे हैं जो दर्शक के ज्ञान की परीक्षा लेने पर उतारू हो जाते हैं, वे प्राय: वर्तमान संस्कृति को देते हुए लगते हैं । सौन्दर्य तत्व या कलात्मक बोध के क्षेत्र में बूंदी की चित्रकला ने इसलिए राजस्थानी कला में अपना स्वतंत्र एवं अद्वितीय स्थान बनाया है ।

18.04.3 कोटा शैली

राजस्थान के निर्माण से पूर्व हाडौती संभाग का एक अन्य राज्य जो उत्तर मुगल काल से क्षेत्र का प्रमुख राज्य बनकर उभरा कोटा राज्य था । शाहजहाँ काल में बूंदी के हाड़ा राजवंशीय राव राजा रतन सिंह के द्वितीय पुत्र माधव सिंह ने स्वतंत्र कोटा राज्य की स्थापना की थी । यहां पर पूर्व में भीलों का अधिकार था व मान्यता है कि कोट्या भील के नाम से इसे कोटा कहां जाता है ।

कोटा शैली के चित्रों में एक ओर जहां तत्कालीन चित्रकारों की कोमलकांत कल्पना की उड़ान उजागर होती है वहां दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन का स्वाभाविक चित्र अत्यन्त संजीवन रूप में निखार पाता हुआ दिखाई देता है । कोटा शैली के चित्रकारों ने शिकार या आखेट संबंधी चित्र भी बनाये हैं और राजाओं का आकृति अंकन भी किया है । धार्मिक आयोजनों और प्रसंगों पर भी अपनी कूची चलाने से कोटा के कलाकार वंचित नहीं रहे हैं । 18 वीं एवं 19 वीं शताब्दी के संधिकाल में कोटा की चित्रकला का विकास तेजी से हुआ । यह विकास महाराजा छत्रसाल एवं महाराजा रामसिंह के शासन काल में विशेष रूप से महत्त्व पाता है । उस समय के कोटा के चित्रकारों में लच्छीराम, रघुनाथ, गोविन्द राम तथा नूर मोहम्मद आदि के नाम उल्लेखनीय है ।

दरबारी दृश्य और जुलूस, श्री कृष्ण की जीवन लीला से संबंधित चित्र, राजाओं की शबीतें प्रारम्भ में कोटा शैली के कलाकारों के प्रिय विषय रहे । बारह मासा, राग -रागनियां, तथा युद्ध-निर्दशन आदि विषयों पर भी पर्याप्त चित्र बनाये गये । लोक कथाओं की संगीतात्मक ध्वनियों को चित्रों में बांधने तथा उन्हें रंगों से मुखर बनाने का भी कोटा शैली के चित्रकारों ने स्तुत्य प्रयास किया है । बीजा-सोरठ, मधु मालती की कथा एवं ढोलामारू के प्रेम प्रसंगों को जिस कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति मिली है वह इन चित्रों में देखते ही बनती है । कोटा के रावराजा भीमसिंह चित्रकला के अच्छे प्रोत्साहनकर्ता सिद्ध हुए । इनके समय गोंसाई गिरधरलाल जी चित्र रचना में सिद्धहस्त हुए ।

कोटा शैली में पुरुषाकृति को मुख्यत: वृषभ-स्कंध, उन्नतभौंह, मोतियों की माला धारण किये हुए मांसल देह रूप में देखते हैं । मुख पर भरी-भरी दाढी और मूंछें । तलवार कटार आदि हथियारों से युक्त वेशभूषा तथा मोतियों जड़े आभूषण इन आकृतियों की छवि में चार चांद लगाते से प्रतीत होते हैं ।

नारी आकृतियां पुरुषाकृतियों से अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं । पीन अधर, सुदीर्घनासिका, मृगलोचनी नायिका की कटि क्षीण दिखायी गई है तथा उरोज उन्नत हैं । कपोल खिले हुए सुन्दर अलकावलि तथा कदली समंजधाऐं नारी आकृति को इन चित्रों में एक खास जीवन्तता प्रदान करती हुई लगती हैं । नारी आकृति का कद यद्यपि कोटा शैली में अपेक्षाकृति छोटा, तथा मोटा दिखाया गया है तथापि चेहरा गोल, आँखें कटाक्षयुक्त, लम्बी और सुहानी चित्रित की गई हैं ।

कोटा के चित्रकारों ने यों तो अनेक रंगों का प्रयोग अपने चित्रों में किया है किन्तु हल्के हरे, पीले एवं नीले रंग का प्रयोग सामन्यत : बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है । आलेखन की सूक्ष्म गरिमा से युक्त कोटा शैली सहज, बोधगम्य, एवं रसरुचिगम्य युक्त एवं स्वतंत्र आधार वाली मनोहारी चित्र शैली है जो कला के विभिन्न आयामों का संतुलित एवं समीचीन दिग्दर्शन कराने में सक्षम हैं ।

18.04.4 किशनगढ़ शैली

अपनी रसमय मनोहारी रंग योजना, आकर्षक एवं गतिमान रेखा सौन्दर्य तथा लवण्यमय संयोजन वैशिष्ट्य के कारण किशनगढ़ शैली के चित्र केवल भारत में ही नहीं विश्वभर में प्रसिद्ध हैं। कृष्ण भक्ति की धारा से सनी भक्त कवि नागरीदास की रसिकता एवं भावुकता से सम्पन्न और 'बणीठणी ' के निंद्य रूप सौन्दर्य की प्रेरणा से पल्लवित संसार प्रसिद्ध किशनगढ़ चित्र शैली राजस्थान के एकीकरण से पूर्व स्थापित किशनगढ़ राज्य की देन है। अजमेर और जयपुर नगरों के मध्य अवस्थित इकाई किशनगढ़ राज्य की स्थापना का श्रेय राजा किशनसिंह को है। ये जोधपुर राज्य के राठौर वंश के राजा उदयसिंह के आठवें पुत्र थे। विभिन्न किशनगढ़ शैली की इस स्थापना यात्रा में राजा रूप सिंह का नाम स्मरण रखने योग्य है। इन्होंने किशनगढ़ से लगभग स्कूल एवं दस मील की दूरी पर रूपनगढ़ बसाया था। किशनगढ़ चित्र शैली राजा राजसिंह एवं रामसिंह के समय में भी उत्तरोत्तर विकस के पक्ष पर बढ़ती रही। राजा राजसिंह तो स्वयं चित्रकार थे। किशनगढ़ की चित्रकला को कलात्मक उत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय जिस व्यक्ति को जाता है उसका नाम है राजा सावंतसिंह (1699 - 1764) जो एक कवि हृदय एवं रसिक होने के कारण आगे चलकर कविवर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए।

किशनगढ़ शैली के चित्रों का विषय प्रधानत: तो राधा -माधव की प्रेमलीला, प्रिया -प्रीतम मिलन तथा मानचित्रण ही रहा है। 'बणीठणी ' के रूप में सौन्दर्य के चित्रण, किशनगढ़ के राजाओं तथा मुगल बादशाहों के चित्रों, गीत गोविन्द के पदों के चित्रांकन आदि में भी इस शैली के चित्रकारों ने कलम का जादू फेरा है।

झीलों, पहाड़ों, वनों-उपवनों का पशु पक्षियों से युक्त किशनगढ़ एवं रूपनगढ़ का प्राकृतिक परिवेश भी किशनगढ़ शैली के चित्रकारों के लिए प्रेरणा एवं अंकन का विषय रहा है। राग - रागनियों पर चित्रांकन, रीति कालीन कवियों का सा वैभव विलास और परम्परानुकूल श्रृंगारिक भावनाओं को आधार बनाकर भी इस शैली के चित्रकारों ने अपनी तूलिका चलाई है। भूमि पर भव्य प्रासादों, केलों के कुंजों, चन्द्रमा तथा तारागण से शोभित चांदनी रात दिखाना भी उन्हें विशेष प्रिय रहा है। किशनगढ़ शैली के चित्रकारों में अमीरचन्द, धन्ना, भंवर लाल, छोटू सूरध्वज तथा मोरध्वज निहालचन्द के नाम विशेष उल्लेख्य है।

इस शैली में बने चित्रों में पुरुषों की आकृतियों समुन्नत ललाटवाली, पतले अधरों, उतिष्ठ नासिका, कालिमा से युक्त दीर्घ नेत्रों, लम्बी आजानु भुजाओं, सुकुमार, अंगूलियों, उन्नत कंधों तथा प्रभाववान मुख मंडल से युक्त होती है। नारी आकृतियों में नारी सुलभ लावण्य एवं कोमलता मुखर रहती है। विशाल रख मोहक आँखें विस्तृत केश राशि, दीर्घ नासिका, उन्नत ललाट, चमेली की पंखुडियों से अधर, अर्ध विकसित किन्तु खिला हुआ वक्ष स्थल आदि नारी का काव्य कल्पित रूप सौन्दर्य किशनगढ़ शैली में मिलता है।

श्वेत और गुलाबी रंगों का मिश्रण किशनगढ़ चित्रों में एक अद्भुत एवं आकर्षण प्रभाव पैदा करने में समर्थ हुआ है। अन्य रंगों में हरा, गहरा नीला तथा लाल प्रमुख है। कुसुम शैया, फूलों के भार से झुके हरित आभा वाले वृक्ष तथा पृष्ठभूमि रख सुवर्ण से आलेपित आकाश इन चित्रों की कतिपय अपनी विशेषताएं हैं।

घनश्याम की नीलछवि, आकृतियों में मुक्ताभरणों का बाहुल्य और चित्र के हाशिये पर पतली किनार से युक्त गुलाबी रंग प्रयोग किया जाता है । किशनगढ़ शैली के चित्रों में चांदनी रात, भवनों के मध्य वर्षा फव्वारे, सारस, पक्षी और लतापात्रों का जो बाहुल्य मिलता है वह उसको जोधपुर शैली के निकट ले जाता है । प्रकृति चित्रण की दृष्टि से बूंदी शैली के चित्र किशनगढ़ चित्रों के प्रभाव क्षेत्र में रहे हैं ।

किशनगढ़ महाराजा के निजी संग्रह, संग्रहालय, कला भवन बनारस आदि स्थानों पर इस शैली की कृतियां सुरक्षित हैं । किशनगढ़ शैली के कुछ चित्र बड़े आकार में भी बने हैं ।

आकृतियों के ओज एवं माधुर्य, रेखाओं की सम्पन्नता, रंगों के जादू और दृश्यों को सबल आधार देने वाली किशनगढ़ चित्र शैली जहां प्रबुद्ध दर्शक को लोक से अलौकिक जगत तक ले जाने में समर्थ है वहां वह उसे यह सोचने पर भी बाध्य करती है कि वास्तव में ये चित्र कृतियाँ सत्य के निकट हैं अथवा सत्य उनके निकट है । इस दृष्टि से किशनगढ़ शैली के चित्रों को "रहस्यमयी कल्पनाओं के अमूर्त स्वप्न " भी कहा गया है ।

18.04.5 जयपुर शैली

अपने आकर्षण शिल्प सौष्ठव, मोहकरंग विधान तथा विधिवत, रूप निर्माण के लिए विश्वभर में भारत का गुलाबी नगर जयपुर प्रसिद्ध है । इस प्रसिद्ध नगरी को बसाने वाले महाराजा सवाई जयसिंह महान् गुणी तथा कला प्रेमी शासक थे । वे साहित्य प्रेमी, गणितज्ञ तथा ज्योतिष विद्या के भी ज्ञाता थे । सन् 1600 से सन् 1900 तक के मध्य जयपुर शैली ने राजस्थान के एक बहुत बड़े भू-भाग को प्रभावित किया । जयपुर राज्य के उत्तर में स्थित शेखावाटी संभाग भी 18वीं शताब्दी के मध्य और उत्तरार्ध में जयपुर शैली से बने चित्रों तथा भित्तिचित्रों से समृद्ध हुआ ।

जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी आमेर थी । महाराजा सवाई जयसिंह प्रथम का राज्यकाल (1699 - 1743) कला की प्रगति की दृष्टि से कई अर्थों में महत्वपूर्ण रहा है । उन्होंने यहां पर वेधशाला का निर्माण कराया और चन्द्रमहल 'जयनिवास के बाग ', ताल कटोरा, तथा सिसोदिया रानी का महल, जैसी भव्य इमारतें बनवायी । मुहम्मदशाह सवाई जयसिंह का दरबारी । चित्रकार था । इस काल के चित्रों पर मुगल शैली का प्रभाव अत्यधिक दिखाई देता है । सवाई जयसिंह के बाद उनके बड़े पुत्र महाराजा ईश्वरी सिंह (1743 - 1750) गद्दी पर बैठे । उन्होंने मराठों के विरुद्ध अपनी विजय पाने के उपलक्ष में 'ईसर लाट' का निर्माण करवाया और साहिबराम नामक चित्रकार ने उनका आदमकद चित्र चन्द्ररस से बनाया था । इसी काल के दूसरे प्रमुख चित्रकार लाल चितारा ने जानवरों की लडाई के अनेकों चित्र बनाये थे । उनके उत्तराधिकारी एवं भाई महाराजा माधोसिंह प्रथम का समय मराठा आक्रमणों व दरबारी षड्यंत्रों के फलस्वरूप उथल -पुथल से भरा रहा । उन्होंने केवल माधो निवास का निर्माण करवाया और सिसोदिया रानी के महल, गलता के मंदिरों तथा चन्द्र महल की दीवारों को चित्रों से सज्जित करवाया । सर 1767 में माधो सिंह के बड़े पुत्र महाराजा पृथ्वीसिंह गद्दी पर बैठे और उनके दरबारी चित्रकार हीरानन्द और त्रिलोक ने सन् 1778 में महाराजा का आदमकद पोट्रेट बनाया । 1779 में पृथ्वीसिंह जी के आकस्मिक निधन के पश्चात् उनके छोटे भाई महाराजा प्रताप सिंह (1779 -1803) गद्दी पर बैठे ये साहित्य, कला तथा भवन निर्माण के बड़े प्रेमी थे । जगत प्रसिद्ध 'हवा -महल ' का निर्माण इसी समय हुआ । इसके अलावा प्रीतम निवास बनवाया । 'चन्द्रमहल ' 'में पांच मंजिलें और बढ़वाई

तथा दीवाने आम का निर्माण करवाया । जयनिवास बाग को गोविन्ददेव जी के मंदिर के रूप में बदल दिया । माधो निवास के पिछले भाग की दीवारों पर चित्रों का चित्रण करवाया गया । प्रताप सिंह एक अच्छे कवि भी थे । इनके दरबार में लगभग पचास कुशल चित्रकार थे । इन्होंने पोट्रेट के अतिरिक्त रागमाला की पूर्ण श्रृंगार, दुर्गापाठ, भागवत आदि पर उत्तम चित्र बनवाये ।

इसके साथ ही विदेशी प्रभाव के प्रवेश के साथ ही जयपुर शैली में चित्रण की प्राचीन पद्धति के ह्रास के लक्षण प्रकट हु ऐ । महाराजा जगतसिंह के समय में प्राचीन कला कमजोर पड़ने लगी । प्राचीन पद्धति का यह ह्रास महाराजा जयसिंह द्वितीय और महाराजा रामसिंह के समय में अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया । कलाकार फोटो -ग्राफिक ढंग से पोट्रेट चित्रित करने लगे । महाराजा ने कलाकारों की इस प्रवृत्ति को देखकर कला के विकास के लिए महाराजा स्कूल आफ आर्टस एण्ड क्राफ्टस की स्थापना की । महाराजा के आदेश से नगर के भवनों को गुलाबी आवरण दिया गया और तभी से जयपुर को गुलाबी नगर की संज्ञा दी जाने लगी । जहां तक चित्रकला का संबंध है लगभग 1900 तक सारे राजस्थान में प्राचीन पद्धति से काम होना समाप्त सा हो गया क्योंकि विदेशियों द्वारा इंचिंग लिथोप्रिन्ट आदि से पूर्ण परिचित हो जाने से लघु चित्रण का कार्य विस्तृत सा होने लगा था ।

जयपुर शैली में पोट्रेट बड़ी कुशलता से तैयार किये गये हैं । इनके अलावा युद्ध, पशु पक्षी एवं फूलों का चित्रण भी बड़ी कुशलता से किया गया है ।

जयपुर शैली के कलाकारों ने चित्रों के हाशिये बनाने में गहरे लाल रंग का उपयोग किया है। इसके अलावा सफेद, लाल, नीला, पीला तथा हरा रंग उक्त कलाकारों को विशेष प्रिय था ।

इस शैली के चित्रों में पुरुषों तथा महिला पात्रों के कद अनुपातिक हैं । पुरुष पात्रों के नेत्र बड़े दिखाये गये हैं । पुरुषों के मूंछे दिखाई हैं और केशराशि लम्बी, चित्रों के अधिकांश पात्र दाढ़ी विहीन हैं । नारी पात्रों का स्वास्थ्य उत्तम, आँखें बड़ी-बड़ी, केश राशि लम्बी बनाई गयी है । चेहरा अण्डाकार, भवें किंचित उठी हुई, सुडोल नाक तथा कोपलों जैसे अधर दिखाये गये हैं । कलात्मक मेंहदी से रचे हाथ और पावों के अतिरिक्त माथे पर बिन्दी अथवा चन्दन लेप के अंकन की प्रथा भी थी । पुरुष एवं महिला आकृतियों को आभूषणों से युक्त दिखाया गया है । जयपुर के कलाकार उद्यान चित्रण में अत्यन्त दक्ष थे । उन्होंने उद्यानों में पेड़, पक्षियों तथा बन्दरों को बड़ी बारीकी के साथ चित्रित किया जयपुर शैली को बहु त लम्बे काल से एक स्वतंत्र चित्र शैली माना जाता रहा है । उक्त चित्रों की तकनीक, संयोजन, संविधान, आकृतियों और वेशभूषा आदि को देखते ही प्रतीत होने लगता है कि अमुक चित्र जयपुर शैली का है । इस शैली का प्रभाव अलवर, भरतपुर, करौली, धोलपुर, टोंक, और उनियारा राज्यों की शैलियों के चित्रों पर भी परिलक्षित होता है ।

18.04.6 अलवर शैली

राजस्थान की समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा में अलवर क्षेत्र का भी पर्याप्त योगदान रहा है । अलवर शैली का प्रारम्भ संवत् 1775 में माना जाता है । जब राजा प्रताप सिंह ने अलवर राज्य की स्थापना की । महाराजा विनय सिंह अलवर के राजाओं में सबसे अधिक कला प्रेमी थे । महाराज स्वयं चित्रकारी का शौक रखते थे । इन्हीं के समय में शेख सादी की 'गुलिस्ता ' की प्रतिलिपि चित्रांकित हुई । विनय सिंह के बाद महाराजा शिवदान सिंह जी के समय में भी कला की बहु त अधिक उन्नति हुई । इसके पश्चात् जयसिंह एक कला प्रेमी राजा हु ए ।

अलवर शैली के चित्रों पर जयपुर शैली का प्रभाव है । इस शैली के चित्रों के हासिये लगभग पूरी तरह से आलंकारित होते हैं । अलवर शैली के प्रतिपादित विषयों में राधा -कृष्ण के दर्शनीय चित्र, वेश्याओं के चित्र तथा अंग्रेजी शैली से प्रभावित लोक जीवन से सम्बन्धित चित्र हैं । राजाओं के कुछ शबीह चित्र भी बनाये एवं साथ ही शिकार संबंधी भी कुछ चित्र बने । अलवर शैली के चित्रों में हरे और नीले रंग का अधिकता से प्रयोग किया गया है । अलवर शैली के प्राचीन चित्रों में पुरुष एवं महिला आकृतियों में आँखें मछली जैसी गोल और होठ पतले-पतले तथा पान की पीक से रचे हुऐ दिखाये गये हैं । चिबुक भरी हुई, भवें कमान की तरह तनी हुई और मुख प्राय गोल होता है । स्त्रियों की चोटी ऊपर की ओर पहले उठाकर फिर नीचे लटकती हुई और लम्बी दिखाई जाती है । सभी स्त्री आकृतियों को आभूष्णों से युक्त दिखाया गया है । जहां तक वेशभूषा का संबंध है स्त्रियों। को अधिकतर पजामा, कुर्ता और चोली पहने बताया गया है । राधा के चित्रण में नारी पात्र लहंगा, चूनरी, और कंचुकी पहने हुऐ हैं । पुरुषों को गले में रुमाल डाले, कमर तक अंगरखी और जयपुर जैसी पगड़ी पहने दिखाया गया है । प्रकृति चित्रण जयपुर शैली के समान ही है ।

18.04.7 नाथद्वारा शैली : -

उदयपुर से लगभग ३० मील दूर उत्तर दिशा में घने पहाड़ों के मध्य कला एवं संस्कृति का केन्द्र नाथद्वारा स्थित है ।इस कस्बे के नाम से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें प्रमुख आकर्षण के केन्द्र बिन्दु ' श्रीनाथ जी ' हैं । अत: यहां पर श्रीनाथ जी की विभिन्न झांकियों के चित्र बहुतायत में बने हैं । श्री नाथ जी को श्रीकृष्ण का प्रतीक मानकर के ही पूजा की जाती है । इसलिए श्रीमद भागवत -गीता आदि ग्रन्थों के अनुरूप विविध कृष्ण लीलाओं को चित्रों में अंकित करने की प्रथा यहां पर है। इनमें कृष्ण जन्म, बृज की बाल लीला, गोचारण, भोजन थाली, दैत्यों का संहार, दान लीला, मान लीला, कालिया नाग, एवं चीर हरण आदि विषयों के अनुरूप अधिक चित्रों का निर्माण हुआ है । छहराग, छत्तीस राग -रागनियों को दर्शाने वाले चित्र भी प्राचीन-काल में यहां पर उत्तम रीति से बनाये जाते थे । बारह-मासों के चित्रों का अंकन भी यहां हुआ है ।

पिछवाईयां नाथद्वारा चित्र शैली की मौलिक देन है । ये 20 - 25 फिट लम्बी, चौड़ी या इससे भी अधिक बड़ी बनती हैं । पिछवाईयाँ अधिकतर श्री नाथ जी के उत्सवों के महत्व को चित्रित करने या कृष्ण लीला संबंधी किसी भी विषय को लेकर तैयार की जाती है । आज समूचे भारत में नाथद्वारा के समान कहीं पर भी उत्तम, सस्ती एवं सुन्दर पिछवाईयां(भगवान की प्रतिमा के पीछे की दीवार को सजाने के लिए कपड़े पर मंदिर के आकार के अनुसार जो पर्दे बनाये जाते हैं) चित्रित नहीं हो रही है । 17 वीं शताब्दी से आज तक प्राकृतिक दृश्य चित्रों का चित्रण यहां अबाध गति से होता चला आ रहा है । श्री नाथ जी के प्रधान-प्रधान पर्वो की झांकियों के चित्र अनेक आकारों में बनते हैं । फ्रेस्को पेन्टिंग के कतिपय उदाहरण भी यहां के प्राचीन स्थानों पर मिलते हैं, जो हमें इटली के भित्ति चित्रों का स्मरण कराते हैं ।

नाथद्वारा शैली में सर्वप्रथम उपयुक्त सतह पर कोयले से रेखानुकृति अंकित कर सिहर अथवा लाल रंग की लिपाई कर यथास्थान सपाठ करके काले रंग से रंगाई की जाती है । उभार व गहरा भाग पर्दाज लगाकर दर्शाते हैं । सुनहरी भाग को सोने के बर्क हल, अथवा मृंगान से स्पष्ट करते हैं । तत्पश्चात् सफेद का काम करके लाल और काले रंग का काम किया जाता है । चित्रों में आकृतियों को आभूषणों

से युक्त बनाया गया हैं । पगड़ी, अंगरखी, धोती, उत्पल, जूते, खड़ाऊ आदि पुरुषों को एवं औरतों को साड़ी, कांचली, घाघरा आदि पहनाया है ।

नाथद्वारा शैली में अपभ्रंश, मेवाड़, मारवाड़ एवं जयपुर की शैलियों का संगम हुआ है और आगे चलकर इनका अस्तित्व

गौण हो गया है । इस शैली में मानव आकृतियों को अन्य कलमों से भिन्न रूप में अंकित किया गया है । आँखे फड़कती मछली के अनुरूप बनाई गई है । कपड़ों की सलवटें भी साफ नजर आती हैं । कलम की विषय वस्तु यहां की निजी है । दृश्य चित्रों में प्राचीन, पाश्चात्य एवं अर्वाचीन प्रभाव लक्षित होता है । इस प्रकार नाथद्वारा की चित्रकला और चित्रकारों ने भारतीय चित्र -परमपरा और स्थानीय विशेषताओं को ओझल नहीं होने दिया है । नाथद्वारा की चित्र शैली आने वाले युग में भी असंख्य चित्रकारों के लिए प्रेरणादायी रहेगी ।

18.04.8 मारवाड़ अथवा जोधपुर शैली

अरावली पर्वतमाला के पश्चिमी भाग में बसा मारवाड़ प्रदेश एक विशाल, विषम भू- भाग है जो कदाचित् किसी समय सरस्वती नदी सभ्यता का प्रधान केन्द्र माना जाता था । राठौड़ों द्वारा इस संभाग में अपने विभिन्न राज्यों के संस्थापन के बाद इस क्षेत्र की संस्कृति की समृद्धि में अपना अपूर्व योगदान दिया ।

मारवाड़ चित्र शैली जिसका प्रारम्भ साधारणतया 17 वीं शताब्दी में माना जाता है, वस्तुत: मुगल तथा स्थानीय अपभ्रंश शैली के समागम से उत्पन्न एवं स्वतंत्र शैली के रूप में सामने आई । कुमार संग्राम सिंह के संग्रह में सन् 1623 की निर्मित एक राग माला चित्र वली है जो कि पाली के प्रसिद्ध विट्ठलदास चम्पावत के लिए चित्रित की गई थी । इसी प्रकार नोडोल में एक अवस्थित जैन मंदिर में लगभग सन् 1605 में निर्मित एक भित्ति चित्र उपलब्ध है । मारवाड़ शैली का उठान शाहजहाँ एवं औरंगजेब के समय के महाराजा जसवन्त सिंह के शासनकाल से आरम्भ होता है । इस समय तक मुगल शैली का प्रभाव मारवाड़ चित्र शैली में आ गया था । इस युग के चित्र अधिक सरस तथा प्रखर हैं । किन्हीं - किन्हीं चित्रों में ईरानी कलम का भी प्रभाव झलकता है ।

महाराज जसवन्त सिंह के बाद अजीत सिंह के शासन काल के उपलब्ध । अनेक चित्र उपलब्ध है । इन चित्रों के विषय भारतीय साहित्य के अनेक प्रसिद्ध काव्य जैसे 'रसिकप्रिया जयदेव कृत ', गीत गोविन्द इत्यादि हैं । इसके अतिरिक्त राज्य दरबार, आखेट, जलसे, जुलूस तथा अन्य सामन्ती विषयों पर भी चित्र बने हैं ।

अजीत सिंह के ज्येष्ठ पुत्र अभय सिंह महान् कला प्रेमी थे । इसी प्रकार महाराज राम सिंह के शासन काल में भी मारवाड़ शैली की परम्परा को और अधिक बल मिला । इस समय बनाये गये चित्रों की अपनी विशेषता रही । चित्रों में पुरुष खूब ऊंची पगड़ी बाँधे हुए हैं । रागरागनी, बारह मासा, गीत गोविन्द, आखेट, लोक कथाऐं, दरबार इत्यादि विषयों पर अनेक चित्र चित्रित किये गये हैं ।

सन् 1803 से महाराज मानसिंह के शासन काल में मारवाड़ शैली का अन्तिम महत्त्वपूर्ण चरण प्रारम्भ होता है । महाराज मानसिंह स्वयं महान् कलाप्रेमी थे तथा कलाकारों का आदर करते थे । यद्यपि इस समय मारवाड़ शैली के सबसे अधिक चित्र निर्मित हुए परन्तु विशेषज्ञों की दृष्टि में उनका स्तर उच्च नहीं है । इस युग के 'ढोला मारू ' लोककथा पर आधारित चित्र मारवाड़ शैली के सुन्दर नमूने

हैं । मानसिंह के उत्तराधिकारी महाराज तख्तसिंह तथा जसवन्त सिंह के शासन काल में मारवाड़ चित्र शैली एकदम प्राणहीन हो गयी ।

मारवाड़ शैली के चित्रों के विषय भी मूलरूप से जयपुर, मेवाड़, तथा बूंदी शैली से भिन्न है। ऐसा लगता है कि जिस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का सूत्रपात बल्लभाचार्य ने किया था उससे मारवाड़ क्षेत्र काफी अछूता रहा । क्योंकि राधाकृष्ण के विषय को लेकर यहां चित्र बहुत कम बने हैं, कुछ बने हैं उनका आधार जयदेव का श्रृंगार काव्य गीतगोविन्द तथा केशव की रसिकप्रिया है । मूलरूप से मारवाड़ शैली के चित्रों के विषय प्रचलित लोक कथाओं जैसे ढोलामारू, मूमलदे, निहालदे आदि हैं । मारवाड़ में बीरों की शबीहे (प्राईट) भी समुचित मात्रा में मिलती है । कबूतर उड़ाती हुई स्त्री, पेड़ की डाल पकड़ कर झूलती हुई स्त्री, दरबारी दृश्य राग- रागनियां और बारह मासा को लेकर काफी सँख्या में चित्र बनाये गये हैं ।

मारवाड़ शैली का पुरुष लम्बा-चौड़ा खूबसूरत होता है, जिसकी लम्बी जुल्फे, कान के नीचे तक फैली हुई हैं । दाढ़ी पूछ खूब होती हैं । सफेद रंग का गोलजामा पहने हुए कमर पर कमरबन्द होता है । पुरुषों के अलंकरण में तुर्रा, किलंगी, सरपेंच, जुबदा, वाली, मोती की मालाऐं, कटार तथा ढाल और तलवार । मारवाड़ शैली में आभूषण अधिकतर मोतियों के ही होते हैं ।

पुरुषों के समान ही स्त्रियां भी लम्बी-गाड़ी बनायी गयी है । बाल काले घने व नितम्बों तक लहराते हुए, हाथ लम्बे तथा अंगूलियां खूब पतली, दोनों हाथों में मेंहदी लगी होती है तथा सिर पर सुन्दर बिन्दी होती है । आँखें खंजन पक्षी की भांति हैं ।

स्त्रियों के मुख्य वस्त्र हैं लंहगा, बसेड़ा, कांचली तथा लूगड़ी । किसी -किसी चित्र में मुगल शैली के प्रभाव के अन्तर्गत स्त्रियाँ चूड़ीदार पाजामा तथा ऊपर से पतला सफेद जामा पहने भी बनायी गयी हैं । किसी चित्र में स्त्रियां कड़ी की जगह दुपट्टा पहने व किसी चित्र में स्त्रियाँ सिर पर पगड़ी तथा टोपी पहने भी बतायी गयी हैं । पैरों में मखमली तथा सुनहरी जूतियां होती हैं । आभूषणों में टीका, टोटी, बाली, बेसर, लूंग, नथ, आढ, टेवटा, कंठी, हार, माला, लाकेट, भुजबन्ध इत्यादि प्रमुखता से उभरे हैं । पैरों में जूर बनड़े तथा पायलों का उपयोग किया गया है ।

मारवाड़ शैली के चित्रों में पीले रंग का अधिक प्रयोग है हाथियों में भी पीले रंग का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है । इसी प्रकार मारवाड़ चित्रों में अन्य वृक्षों की अपेक्षा- आम के वृक्ष अधिक दर्शाये गये हैं । पशु पक्षियों में ऊँट, घोड़ा तथा कुत्ता को अधिक चित्रित किया गया है । बादलों को खूब घने काले रंग में गोलाकार दिखाया गया है ।

18.04.9 जैसलमेर शैली :-

जैसलमेर में पर्याप्त चित्र यहां के कलानुरागियों के घरों में भी देखने को मिलते हैं । रंग, आकृति और भाव-विधान की दृष्टि से ये चित्र राजस्थान के अन्य क्षेत्रों के चित्रों से भिन्न, सुन्दर कलापूर्ण और सजीव हैं । अमरचन्द नाहटा की मान्यता रही है कि जैसलमेर चित्र शैली जोधपुर चित्र शैली का ही एक अंग है । चित्रकला के मर्मज्ञ श्री रामगोपाल विजयवर्गीय ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी चित्रकला 'में जैसलमेर चित्र शैली के संबंध में लिखा है कि 'यद्यपि उत्तरी राजस्थान में जोधपुर की चित्रकला

ही प्रधान और व्यापक है, तथापि जैसलमेर के चित्रकारों ने रेखाओं के लालित्य में जैसी दक्षता दिखाई है । वैसी राजस्थान की अन्य चित्र शैलियों में नहीं पाई जाती । '

जैसलमेर के कलानुरागी अधिशासकों के देहावसान के पश्चात् न तो यहां पर किसी तरह का संग्रहालय बन सका और इनकी न चित्रकला मर्मज्ञों का विशेष आवागमन ही रहा फलस्वरूप जैसलमेर चित्र शैली के चित्रों का स्थान पर संग्रह आज तक उपलब्ध नहीं हो सका है । थोड़े बहुत चित्र जो इन प्रासादों, मोहल्लों की हवेलियों, पटवों की हवेलियों आदि स्थानों और स्वतंत्र रूप से विभिन्न व्यक्तियों के पास उपलब्ध हैं, उन्हीं का सहारा लेकर जैसलमेर शैली के चित्रों का मूल्यांकन किया जाता रहा है।

भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से ये चित्र और प्रभावोत्पादक है । इस शैली के चित्रों में पुरुषों के मुख पर दाढी, मूंछों की नीलिमा, तथा मुखाकृति ओज और वीरता से परिपूर्ण दिखाई गई है । सिर पर बंधी पगड़ियां विशेष प्रकार की पीछे की ओर अधिक झुकी हुई दिखाई गई हैं । शरीर तने हुए और शक्तिशाली चित्रित किये गये हैं, जो यहां की वीर भावनाओं के परिचायक हैं ।

नारी चित्रों में स्त्रियों के मुख खिंचे हुए यौवन की दीप्ति से परिपूर्ण, सुन्दर और कला पूर्ण है । नेत्रों को अंगों के अनुपात में चित्रित किया है न कि कल्पना के आधार पर । बनावट की दृष्टि से जिन्हें तीखे एवं रस भरे कह सकते हैं । अंगुलियों की बनावट आकर्षक और विशिष्टता लिए हुए है ।

राग-रागनियों के चित्रों से भी जैसलमेर शैली अपनी विशेषता रखती हैं । जैसलमेर शैली के चित्रों में रंगों का बाहुल्य न होकर कला तत्व का बाहुल्य विशेष देखने को मिलता है ।यहां के चित्रकारों ने कला के बाह्य पक्ष की ओर अधिक ध्यान न देकर उसके आंतरिक पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया है ।

18.04.1 बीकानेर शैली

राजस्थानी शैली के अन्तर्गत बीकानेर शैली के उन्नायक मुगल सम्राट औरंगजेब कालीन महाराज अनूपसिंह की कलाप्रियता यहां के राजवंश में विशिष्ट एवं अद्‌वितीय थी । ये कला और कलाकार दोनों का मान करते थे । इनके आश्रय में जो चित्र शैली पनपी उसे बीकानेर शैली के नाम से जाना जाता है । वैसे सम्राट अकबर के समय हुए नरेश राजा रामसिंह ने बीकानेर में चित्रकला की दृढ़ नींव डाल दी थी । उन्होंने अनेक चित्रकारों को बाहर से लाकर अपने राज्य में बसाया था । वे चित्रकार उस्ताद कहलाते थे । जो शनै:शनै: उस्ता के नाम से जाने जाने लगे । वैसे राजस्थान के उत्तर में स्थित बीकानेर चित्र शैली का उद्भव एवं विकासकाल 17 वीं से 18 वीं शताब्दी का माना जाता है ।

बीकानेर शैली के चित्रों के प्रमुख विषय है राजा महाराजाओं के पोट्रेट्स (सबीते) दरबार एवं आखेट के दृश्य - राग रागनियों का चित्रांकन तथा मुगल काल के चित्रों की प्रतिलिपियाँ । रसिकप्रिया एवं अन्य श्रृंगारिक आख्यानों को भी बीकानेर के चित्रकारों ने अपनी कूची के माध्यम से रंगों में बाधा है । भागवत कथा संबंधी चित्र विषयवस्तु की दृष्टि से बीकानेर शैली के सुन्दर चित्रों में से हैं ।

बीकानेर शैली के लघु चित्रों को जर्मन लेखक हरमन गोइट्ज ने बहुत सराहा है । श्री आनन्द कुमार स्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेंटिंगस्' में सारस मिथुन चित्र के संदर्भ में इस शैली के महत्वपूर्ण स्वरूप का बोध कराया है ।

बीकानेर शैली के लघुचित्रों में आकाश को सुनहरे छल्लों से युक्त, मेघाच्छादित दिखाया गया है । मेघ मालाओं को गोल श्वेत और नीलाथ रंगों से बनाया गया है, जो चीनी रंग योजना के नजदीक है । जूनागढ़ स्थित बादल महल में यह चित्रकारी विशेष दिखायी देती हैं । इन चित्रों में पीले रंग को प्रमुखता प्राप्त हुई है । वेशभूषा की दृष्टि से यहां के चित्र मुगल शैली से बेहद प्रभावित हैं तथा कहीं कहीं इन पर जोधपुर शैली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है । अधिकांशत: पीला और गुलाबी तथा किनारों पर पीला और लाल रंग बीकानेर शैली के चित्रों की एक सामान्य पहचान है ।

पुरुषों की आकृतियां उम्र, दाढ़ी मूछों से युक्त वीरभाव को प्रदर्शित करती हुई होती है । पुरुष ऊँची शिखराकार पगड़ियां बांधे हुए, फैले हुए जामे पहने तथा लम्बे और तीखे खड़ग हाथ में लिये हुए दिखाए गये हैं ।

नारी आकृतियां जोधपुर और मुगल शैली के समान, आँखें, होठ, नाक और सम्पूर्ण कद के चित्रण में बीकानेर शैली की नारी आकृतियाँ अपना अनूठा सौन्दर्य रखती हैं । महाराजा गंगासिंह के काल में यूरोपीय चित्रकार मूलर ने बीकानेर इतिहास से सम्बन्धित भव्य व कलात्मक चित्र बनाये हैं जो आज भी म्यूजियम में देखे जा सकते हैं ।

परिश्रम साध्यमुगल चित्रों की प्रतिलिपियों और विभिन्न विषयों पर आधारित चित्रमालओं के साथ ही बीकानेर शैली की अनेक मूल एवं स्वतंत्र आकृतियों के आधार पर यह कहना युक्ति संगत होगा कि बीकानेर शैली के चित्र मौलिक रूप से अपना एक अलग अस्तित्व रखते हैं और रेखाओं की गतिमयता रंगों के आकर्षक प्रयोग तथा आलेखन की सहजता । के कारण राजस्थान की अन्य चित्र शैलियों से किसी तरह कम नहीं है ।

18.5 इकाई सारांश

भारतीय परम्परा में शरीर जड़ और आत्मा चेतन मानी जाती हैं । अत: राजस्थान में जितने भी चित्र बने उनकी आकृति पर शान्ति की आभा बनी रही । शरीर का कोई भी अंग शोर मचाता सा नहीं लगता । आत्मा के चित्रण की जो परम्परा बढ़ी वह केवल देवताओं की मूर्तियों तक ही सीमित नहीं रही, वरन् संतों, राजाओं यहां तक कि नारी के चित्रों में भी विद्यमान रही । राजस्थानी चित्रकारों ने प्रेम और विरह की अनन्तता तथा अदृश्य के अनुसंधान में भी अपने को पर्याप्त खपाया है । यहीं कारण है कि आज भी उनकी कला अमरता की ओर बढ़ती हुई दिखाई दे रही हैं ।

मेवाड़ व हाड़ौती क्षेत्र में चित्रकला पर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है । बल्कि वल्लभ सम्प्रदाय ने चित्रकला को नई स्फूर्ति दी है । मारवाड़-बीकानेर शैली में मुगल प्रभाव अधिक स्पष्ट है । जैसलमेर की शैली में विषय की आत्मा को अधिक उभारा गया है, वहीं बूंदी व किशनगढ़ शैलियों में नारी के अनेक रूपों व मुद्राओं को मोहक ढंग से चित्रित किया है । राजस्थान की विभिन्न शैलियों में रंगों का चयन भी अलग-अलग है, इस प्रकार राजस्थान की चित्रकला अपने रूप में एक होकर भी अनेक हैं ।

18.06 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में लिखिये : -

(1) राजस्थानी चित्रण की सर्वश्रेष्ठ शैली की समालोचना करें । अपने मत की पुष्टि के लिए समुचित उदाहरण प्रस्तुत करें ।

(2) राजस्थानी चित्रकला की विषय वस्तु पर अपने विचार लिखिये ।

(3) राजस्थानी चित्रकला की प्रमुख शैलियों का उल्लेख कीजिए । उनकी प्रमुख विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण कीजिए ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में लिखिये ।

(1) निम्न में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये -

(1) 1. कोटा शैली 2. जयपुर शैली 3. जोधपुर शैली 4. बीकानेर शैली

(2) बूंदी चित्र शैली पर एक निबन्ध लिखिये ।

(3) मेवाड़ शैली में राजस्थानी चित्रों का प्राचीनतम स्वरूप देखा जा सकता है । इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

18.07 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

1. आनन्द कुमार स्वामी - राजपूत चित्रकला, कलकत्ता, 1931
2. राधाकृष्ण वशिष्ट-मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, जयपुर 1983
3. रामगोपाल विजयवर्गीय- राजस्थानी चित्रकला, जयपुर 1953
4. डॉ. जयसिंह नीरज- राजस्थानी चित्रकला एवं कृष्णकाव्य, दिल्ली
5. मोतीचन्द्र- मेवाड़ पेन्टिंग्स
6. मोतीचन्द्र- बूंदी पेन्टिंगस
7. अविनाश बहादुर वर्मा- भारतीय चित्रकला का इतिहास

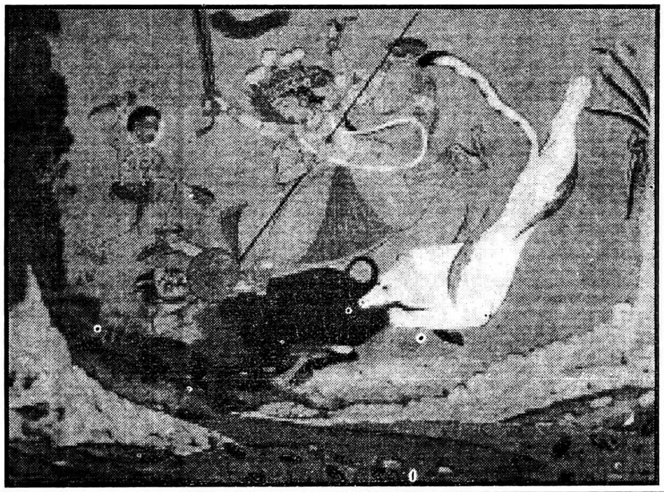

इकाई सं. 19 'राजस्थान के ग्रामीण संभाग में चित्रकला'

इकाई संरचना

19.01 उद्देश्य
19.02 प्रस्तावना
19.03 राजस्थान की ग्रामीण चित्रकला
19.04 कपड़े पर बने चित्र-पट चित्र या फड़
19.05 कागज पर बने चित्र-पाने
19.06 लकड़ी पर बने चित्र- कावड़ व खिलौने
19.07 पकी मिट्टी पर बने चित्र - मृदपात्र, लोक देवी देवता की मूर्तियाँ, खिलौने
19.08 मानव शरीर पर चित्र- मेंहदी, गुदना
19.09 भित्ति चित्र- आकारद चित्र- देवरा, पथवारी, भित्तियों पर चित्र, सांझी
19.10 भूमि अलंकरण- अमूर्त, सांकेतिक व ज्यामितीय अलंकरण - मांडणा
19.11 भारत की अन्य लोक कलाओं से तुलना
19.12 इकाई सारांश
19.13 शब्दावली
19.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.01 उद्देश्य

आपने इकाई सं. 17 में लोककलाओं के बारे में जानकारी प्राप्त की । इस प्रस्तुत इकाई में ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों की विभिन्न रुचियों एवं विश्वासों के आधार पर जो चित्रकला उभरकर सामने आयी है र उस विषय पर विशेष ध्यान देकर उसके सांस्कृतिक महत्व को समझाने का यत्न किया है । इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप विशेष रूप से यह जान पायेंगे कि ग्रामीण अचल की यह कला कितनी आकर्षक, सरलता एवं विशिष्टता लिये हुए है और राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन का यह कितनी समृद्धता से निर्माण करती है ।

19.02 प्रस्तावना

कला क्या है? पूर्व व पश्चिम दोनों ओर के दार्शनिकों, कला समालोचकों, समाज शास्त्रियों ने समय -समय पर इसका विश्लेषण विभिन्न प्रकार से किया है । भारतीय शास्त्रों में भी कलाओं की व इससे जुड़े सौन्दर्य की विस्तृत व्याख्याएं हुई हैं । परन्तु 'लोक कला ' का शब्द कला जगत् में कुछ नया है। जबकि लोक कला सबसे प्राचीन है । जब से मानव सभ्य हुआ, तभी से लोक कला प्रारम्भ हुई । भारतीय शास्त्रों में कला के बारे में विस्तृत विवेचन मिलता है । इनमें कला को मोटे रूप से दो भागों में विभक्त किया । प्रथम, चारू कला (शास्त्रीय कला या ललित कलाएं जो सौन्दर्य पर आधारित हैं) द्वितीय, कारू कला (वे कलाएं जो उपयोगी कलाएं हैं) पश्चिम में भी कलाओं को दो भागों में विभक्त

किया ललित कलाएं व जनोपयोगी कलाए या व्यवसायिक कलाएं । लोक कला सदैव कारु कला या उपयोगी कला (Crafts) का ही भाग बनी रही ।

बीसवीं शताब्दी में सर्वप्रथम जर्मनी के समाजशास्त्री (वॉन अमीन) ने इन कलाओं को समाजशास्त्र की एक शाखा फोकलोर ' में सम्मिलित किया । जैसा कि इकाई संख्या 17 में स्पष्ट किया गया है कि लोक कलाएँ ग्रामीण अंचलों के हर सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक पहलू का अध्ययन करती हैं । लोक कला पहले विभिन्न नामों से पुकारी जाती थी जैसे सर्वसाधारण की कला, अनपढ़, असभ्य, गंवारों की कला, ग्राम्य कला, जनपद की कला, क्षेत्रीय कला आदि । बीसवीं शती में 'लोक कला ' नाम देकर इसे सुन्दर पहचान दी है ।

लोक कला को महत्वपूर्ण स्थान दिया आधुनिक अमूर्त कला ने । जहां वैयक्तिक अभिव्यक्ति व वैयक्तिक रचना को कला कहा गया व रुढ़िबद्ध कला शिक्षा व उनके कठोर नियमों से हटकर कला को परखा जाने लगा । विभिन्न पश्चिमी के व भारतीय कलाकारों ने भी लोककला शैलियों से सरलीकरण, आकृति विघटन, सरलता, द्विविधात्मकता, सांकेतिकता को । उधार लेकर अपने चित्रों में नवीनतम प्रयोग किये । स्पेन के चित्रकार पिकासो ने इन सभी विशेषताओं को सर्वप्रथम समझा, उनकी प्रशंसा की व अपनी रचनाओं में प्रयुक्त करके ' धनवाद ' का प्रारम्भ किया, जिससे कला का स्वरूप परिवर्तित हुआ और कला अमूर्तता की ओर अग्रसर हुई । भारत में यामिनी राय बंगाल के चित्रकार ने सर्वप्रथम लोक कला के तत्वों को चित्रों में समाहित करके नवीन रचनाएं की, जिनसे लोक कला पूर्ण प्रसिद्धि पा गई व समाज में इसने आज स्व विशिष्ट रूपरेखा " पहचान बनाई है ।

19.03 राजस्थान की ग्रामीण चित्रकला

हम यहां केवल लोककला में लोक या ग्रामीण चित्रकला का ही अध्ययन कर रहे हैं । यह चित्रकला भी सौंदर्य, कलात्मक प्रवृत्ति, लोकरंजकता के साथ -साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं, विश्वासों, अन्धविश्वासों की सरल, स्वाभाविक अभिव्यक्ति हैं । विशेष रूप से यदि राजस्थान के लोकचित्रों को हम देखें तो चित्र चाहे दीवार पर बने हों, या भूमि, लकड़ी, कपड़े, मानव शरीर पर, सभी लोक रचनाएं हमें उनके अन्तर्मन की झलक देती हैं ।

राजस्थान में लोक चित्रकला हमें निम्न आकारों में देखने को मिलती हैं : -

1. कपड़े पर बने चित्र - पट चित्र या फड़
2. कागज पर बने चित्र - पाने
3. लकड़ी पर बने चित्र - कावड़ एवम् खिलौने आदि
4. पकी मिट्टी पर बने चित्र - मृद्पात्र, लोक देवी देवता की मूर्तियों, खिलौने आदि
5. मानव शरीर पर बने चित्र - गुदना, मेंहदी
6. भित्ति पर बने चित्र - देवरा, पथवारी व भित्तियों पर चित्र, साँझी
7. भूमि अलंकरण - मांडणा

19.04 पटचित्र- कपड़े पर बने चित्र

राजस्थान के भीलवाड़ा शहर में मुख्यत: आज भी पटचित्र बनाने की परम्परा जीवित है । छीपा जाति के जोशी चितेरे पट चित्रों को बनाने के लिये प्रसिद्ध हैं । पटचित्रों को राजस्थानी भाषा में 'फड़'

के नाम से पुकारा जाता है । मध्यकालीन ग्रन्थों जैसे 'पंचदशी', 'कथासरित्सागर ', 'तिलक मंजरी', 'मजुश्री कल्प' आदि में पटचित्रों व इनको बनाने की तकनीक का उल्लेख मिलता है । डॉ. मोतीचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'मिनिएचर पेंटिंग फ्राम वेस्टर्न इंडिया' में यह स्वीकारा है कि 14 वीं शताब्दी के बाद मध्य भारत में पटचित्र बनाने की परम्परा रही है । चाहे शास्त्रीय शैली में हो या लोक शैली में पट सदैव जीविकोपार्जन का साधन रही है । भीलवाड़ा में फड़ चित्रकार आज भी यह कार्य कर रहे हैं । भोपा प्रजाति के लोग वर्षो से इन चित्रकारों से फड़ बनवाकर दो लकड़ियों पर लपेट कर एक गांव से दूसरे गांव जाते है व सांझ पड़े फड़ पर बनी कथाओं के प्रशस्ति गीत गाकर मथर गति से नाचते हुए रावण हत्था वाद्य यन्त्र बजाकर कथा का प्रस्तुतीकरण करते हैं । यह लोक गायन, वादन, नृत्य, मौखिक साहित्य, चित्रकला का अद्भुत संगम है व लोक कला का सर्वश्रेष्ठ नमूना है ।

फड़ अधिकतर लोक देवता पाबू जी, देवनारायण जी, रामदेव जी या हिन्दू देव -कृष्ण राम या देवी माता दुर्गा विषयों पर ही निर्मित की जाती है । भीलवाड़ा में ही कती दो सूती पर चावल या गेंहू के माड के कलफ लगाकर कैनवास तैयार किया जाता है । प्रथम रेखांकन पीले रंग से खड़ी पड़ी रेखाओं द्वारा सतह विभाजन करके किया जाता है फिर उसमें आकृतियाँ बैठाई जाती हैं । रंगों में गेरू, हिरमिच, जगाल, हरतल, प्योड़ी, सिंदूर, हिंगुल, काजल व नील का अधिकतर प्रयोग देखने को मिलता है । इन रंगों से बनी तानों का प्रयोग भी कभी-कभी देखने को मिलता है । देवी देवताओं को सिन्दूरी रंग से बनाया जाता है, जो शौर्य का परिचायक है । राक्षस काले, साधु सफेद या पीले बनाए जाते हैं, रंगों की खुलाई काले रंग से की जाती है । बड़ी फड़ की लम्बाई ' 24 x 5 ' रहती है । आजकल बेचने के लिऐ छोटी फड़ का प्रचलन भी चल पड़ा है ।

चारण, भोपे, राजपूत, गूजर, जाट, कुंभकार, बलाई जाति के होते हैं जो कि नागौर, बीकानेर, जैसलमेर के निवासी-हैं तथा पारम्परिक रूप से ये फड़ बनवाने भीलवाड़ा आते रहते हैं । जोशी चित्रकार भीलवाड़ा व उसके पास ही शाहपुरा में बसे हुए है ।

फड़ ग्रामीणों के सरलतम् विवरणात्मक व क्रमबद्ध कथन का सुन्दर प्रतीक है व हिन्दू धर्म से सम्बन्धित है । सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में हिन्दू धर्म के प्रचार -प्रसार का यह एक सुन्दर माध्यम है एवं एक रुचिकर व सशक्त माध्यम है जीविकोपार्जन का ।

फड़ चित्रों में संयोजन में प्रमुखाकृति को सबसे बड़ा बनाकर उसे केन्द्रत्व व प्रधानता दी जाती है व अन्य आकृतियाँ गौण रहती हैं अतः छोटे आकार की होती है । वास्तविक प्रमाण व वास्तविक परिपेक्ष्य का प्रयोग बिछ्ल नहीं है ।

इस कारण ये विवरणात्मक, कथात्मक होते हुए भी सांकेतिक है । मानवाकृतियों का शैलीकरण बहुत विशेष है व शैलीबद्ध है । दोहरी ठोड़ी, एक चश्म चेहरा, आखें बीजनुमा बहुत बड़ी, तीखी पूछें, छाती चौड़ी, हाथ पैरों का अंकन कमजोर, सतह विभाजन का प्रयोग, तीखी रंग योजना शत प्रतिशत जैन शैली के समीप हैं । अत्यन्त रुढिबद्ध, पारम्परिक, अपरिवर्तनशील व आदिम शैली की होते हुए भी ये चित्र कला रसिक एवं साधारण दर्शकों दोनों को समान रूप से प्रभावित करते हैं । इनमें देवी देवताओं के जीवन की असंख्य घटनाओं, उनसे सम्बन्धित चमत्कारों को पूर्ण ब्यौरे के साथ प्रस्तुत किया गया है । असंख्य घटनाओं को एक सतह पर दर्शाना एक अत्यत कठिन कार्य है, जिसको सरल रूप में फड़ चित्रकारों ने दक्षता से प्रस्तुत किया है । ओसी गांगुली ने पट चित्रों के लिये सही कहां है

कि इनके अद्भुत, शानदार, परम्परापरक चित्रित संयोजनों में अजीब मूढ़तापूर्ण अंकन मिलता है व जानबूझकर तीव्र रंगों में संजोई आकृतियों में एक सजीव भावाभिव्यक्ति के कारण ही ये चित्र अत्यन्त प्रशंसित हुए हैं।

चित्रों में विषयानुसार मानवाकृत्तियों के साथ-साथ पशु, पक्षी व प्रकृति को भी जगह जगह पर प्रयुक्त किया गया है। घोड़ा, घोड़ी, शेर, बैल, गाय, हिरण, कछुआ, तोता, चिड़िया, बतख, विभिन्न प्रकार की लतरें, बेलें व वृक्षों को लोक शैली में चित्रित किया है। सभी फड़ों में "पाबू जी की फड़' अत्यन्त दर्शनीय है व प्रसिद्ध भी है। मध्यकाल में ग्रामों में लोक देवताओं के पूजन की प्रथा देखने को मिलती है। ऐसे चरित्र जिन्होंने किसी न किसी रूप में ग्रामीणों की सहायता की, वे देवरूप में पूजे जाने लगे। पाबू जी, बाबा रामदेव जी, देवनारायण जी की फड़ अलग- अलग निम्नजातियों में सुनाई जाती है व इनके देवरे राजस्थान में कई जगह बने हैं, जहाँ इनको अब भी पूर्ण श्रद्धा से पूजा जाता है। प्रत्येक फड़ का विषय एक ही है कि किस प्रकार इन देवों ने गरीब लोगों को शक्तिशाली लोगों से बचाया, उदाहरण के लिये पाबू जी राठौड़ वंश के थे और उन्होंने रेबारी जाति के लोगों को जयेला के राजा देवल की क्रूरता से बचाने की प्रतिज्ञा की थी। जिस दिन पाबू जी का विवाह था, उसी दिन उन्हें विवाह स्थल से जा कर रेबारियों के जानवरों को बचाने के लिए जाना पड़ा और मारे गए। अतएवं उन्हें देव के रूप में पूजा जाने लगा। ग्रामीणों को पूर्ण विश्वास है कि ये देव उन्हें आज भी अपनी आलौकिक शक्ति द्वारा उनके जीवन को सुधारते हैं व रक्षा करते हैं। चित्रों में 50 - 70 के बीच घटनाओं का चित्रण हमें देखने को मिलता है।

19.05 कागज पर बने चित्र -पाने

पूरे राजस्थान में उत्सवों व त्यौहारों को उचित रूप से मनाने के लिये विभिन्न देवी देवताओं की विधि विधान पूर्वक पूजन की मान्यताए आज भी है। जन्म से मृत्यु तक व वर्ष का प्रत्येक दिन तीज त्यौहारों, व्रतों, अनुष्ठानों से जड़ित है। कोई आवश्यक नहीं कि संभाग के प्रत्येक गांव में मन्दिर या प्रतिमाएं हों। अनुष्ठानों में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े, इस कारण से कागज पर देवों, देवियों के चित्रों को बनाना व उन्हें बेचना प्रारम्भ हुआ, जो कि यहां पाने कहलाते हैं। ये पाने मेलों में बहुत सस्ते दामों पर बिकते हैं व ग्रामीण उन्हें खरीद कर समयानुसार पूजन के समय प्रयुक्त करते हैं। ये पाने शुभ, समृद्धि, सुख, आनन्द के द्योतक हैं। त्यौहार आने पर इन्हें दीवार पर चिपका दिया जाता है और पूजन पूरा हो जाता है। राजस्थान में गणेश जी, लक्ष्मी जी, रामदेव जी, गोगा जी, श्रवण कुमार, तेजाजी, राम, कृष्ण, शिव -पार्वती, धर्मराज, देवनारायण जी, श्री नाथ जी, नृसिंह, माताजी के पाने अत्यन्त प्रचलित हैं। इन्हें मामूली कागज पर हाथ से काली स्याही से बनाकर अन्दर तीव्र रंग योजना से मोटा -मोटा भर दिया जाता है। कहीं कहीं लकड़ी के सांचे से बाह्य रेखाओं की छपाई करके अन्दर हाथ से रंग भरने का प्रचलन है। लक्ष्मी जी के पाने कई कलाकार, जो थोड़ा बहुत लघुचित्र सीखें हुए हैं, वे लोक शैली और लघु चित्र शैली मिश्रित पाने बनाते हैं। श्री नाथ जी का पाना भी काफी कलात्मक है। इनके चौबीस श्रंगार प्रसिद्ध हैं, जो नाथद्वारा में आज भी दुकानों पर मिलते हैं।

विवाह पर गणेश जी का पाना गरीब - अमीर, शहरी -ग्रामीण सभी लगाते हैं, जिसमें उन्हें बैठे हुए, पीली धोती पहने, मोटी तोंद, भारी शरीर पर गुलाबी सूंड, चारों हाथों में शख, चक्र, लड्डू व

कमल पकड़े हुए, कमल पर या मूषक पर विराजमान दिखाया जाता है । घर में सुख समृद्धि व शुभ लाभ के लिये इसका प्रयोग सबसे अधिक है । विवाह के समय पहले गणेश जी का पाना भंडार में चिपका कर या गणेश जी की स्थापना करके ही कोई शुभ कार्य प्रारम्भ किया जाता है ।

दूसरा पाना है देवी लक्ष्मी का जिसे हर ग्रामीण -शहरी हिन्दू दीपांवली पर अवश्य घर, दुकानों, कार्यालयों में स्थापित करके ही आगे कार्य करते हैं । देवी लक्ष्मी क्षीर सागर से उदय होती हुई, कमल पर आसीन, दोनों ओर से हाथी नहलाते की एक हुए, हाथ में धन, कमल पकड़े हुए पारम्परिक रूप से चित्रित की जाती है ।

इसी प्रकार लोक देवता रामदेवता जी को घोड़े पर, श्रवण कुमार को बहंगी हुए जिसमे उनके मता पिता बैठे हैं राखी पर दीवार पर चिपकाया जाता है । तेजाजी घोड़े पर सांप के साथ, हनुमान जी पताका पकड़े हुए, कृष्ण जी नौ गायों के साथ या मक्खन खाते हुए या राधा के साथ, शिव -पार्वती साथ साथ बैठे हुए, दोनों आजू बाजू गणेश व कार्तिकेय, धर्मराज जी, काला गोरा, भैरू जी, देवनारायण जी, नृसिंह, माता आदि के विभिन्न पाने मेलों में बहुतायत से मिलते हैं जो कि कार्य सिद्धि में सहायक रहते हैं ।

सभी पानों में खुलाई काले रंग से व तीव्र रंग योजना का प्रयोग है । पहले पारम्परिक खनिज रंगों का प्रयोग होता था, किन्तु अब कपड़ा रंगने के रंग व पोस्टर रंगों की बहुलता दिखाई देती है । आकृतियाँ सम्मुख देखती हुई, बीज नुमा फटी आँखों वाली लोक शैली में बद्ध है । इनमें गुलाबी, लाल व काले रंगों की भरमार है । फड़ चित्रकार भी अपनी फड़ शैली में ही बड़े बड़े पाने बना कर विक्रय करते हैं ।

19.06 लकड़ी पर बने चित्र - कावड़ व खिलौने

लकड़ी की बनी सबसे आकर्षक वस्तु है 'कावड़ ' या चलित मन्दिर जो कि उदयपुर के निकट बस्सी ग्राम में खेरादी प्रजाति के लोग आज भी कावाड़ीया भाटों के लिये बनाते हैं । अत्यन्त सस्ती लकड़ी जैसे अरहू, धाक, धोक, खिरनी, आम आदि का बना यह मंदिर कई कपाटों का बनाया जाता है । इसी कारण यह 'कावड़ ' कहलाती है । इस लकड़ी के मंदिर को पहले बना कर फिर लाल लखारी रंग से राम जाता है । फिर उस पर महाभारत, रामायण, कृष्ण लीला, अष्टावतार, पाण्डव चरित के अलावा रामदेव जी, गोपीचंद भरतरी आदि के भी चित्र चित्रित किये जाते हैं जिनमें हरतल, प्योड़ी, सेलू नीलू, काजल, सफेद से असख्य आकृतियाँ बना कर इसे अलंकृत किया जाता है । कावड़िया भाट इसे कपड़े में लपेट कर सिर पर रख कर फड़ की ही भांति गांव -गांव जाकर इन धार्मिक कथाओं का वाचन करते हैं । निम्न जातियाँ जिन्हें मंदिर में जाने का निषेध है व उनके स्वयं के मंदिर नहीं हैं, ऐसे गांव जहां धर्म का प्रवचन करने वाला कोई नहीं है, वहां ये भाट हिन्दू धर्म का प्रचार प्रसार पौराणिक गाथाओं के चित्रों के माध्यम से करते हैं । भाट कपाट खोलते जाते हैं व उन पर चित्रित कथा सुनाते जाते हैं । सभी कपाट खुलने के बाद अन्दर मंदिर निकलता है, जिसमें राम, सीता व लक्ष्मण जी की प्रतिमाएं होती हैं । उनके दर्शन के बाद आरती होती है । इस समय आकर्षक लाल कावड़ पर चित्रित जड़, गतिहीन मानवाकृतियाँ सजीव होकर उभरने लगती हैं ।

भीलवाड़ा से कुछ दूर बस्सी नामक ग्राम में खाती, खेरादी, सुथार जाति के लोग लकड़ी की कारीगरी के लिये प्रसिद्ध हैं । लकड़ी के घरेलू सामान बनाने के अतिरिक्त विभिन्न कठपुतलियाँ, पूजन की सामग्री, विभिन्न मांगलिक कार्यों में काम आने वाली वस्तुएँ व खिलौनों के निर्माण में ये खेरादी सिद्धहस्त हैं । आज भी मोर, चौपड़ा, (मृगारदान) बाजोट (चौकी) गणगौर, हिंडोला, विमान, मुखौटे, पुतलियां, नाटक में काम में आने वाली वस्तुएँ जैसे ढाल, तलवार, खांडा आदि कलात्मक रूप से बनते हैं । इनकी गढ़ाई बहुत मोटी और भौंडी होती है किन्तु ऊपर लगे रंगों के कारण यह अति आकर्षक व कलात्मक हो जाती हैं । तीव्र लाल रंग पर आकारों को बिन्दुओं द्वारा अलकृत करने के कारण ये खिलौने मनमोहक लगते हैं । ये सभी खिलौने विभिन्न त्यौहारों धार्मिक अनुष्ठानों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं ।

19.07 पकी मिट्टी पर बने चित्र -मृदपात्र, लोक देवीदेवता की मूर्तियाँ, खिलौने

पकी मिट्टी के बर्तनों पर चित्रण करने की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से चलती आई है । यह कला स्वरूप आज भी ग्रामों में अपरिवर्तनीय रूप में पनप रही है । राजस्थान में मिली सिन्धु घाटी सभ्यता की समकालीन सभ्यताएँ जैसे काली बगा, आहाड़ के उत्टनन से प्राप्त चित्रित मृदपात्र इस परम्परा की प्राचीनता के सबूत हैं । चौथी शताब्दी के अजन्ता की गुफाओं के चित्र 'महाजनक जातक' में भी हम ये चित्रित मृदपात्र देख सकते हैं । उदयपुर संग्रहालय में संगृहीत उत्तर मध्यकालीन चित्रित पोथियों जैसे 'मालती माधव', 'कादम्बरी' 'प्रबोध चन्द्रोदय' आदि के कतिपय चित्रों में चित्रित मिट्टी के बर्तन इसी प्राचीन परम्परा की निरन्तरता का परिचय देते हैं । मृदपात्र आज भी घरेलू सामान संग्रह करने, खाना पकाने, पूजन हेतु निर्मित किये जाते हैं और उन्हें ऊपर से कलात्मकता से रेखांकित किया जाता है । दीपावली पर हटडी, घड़ा गणेश पूजन पर घड़ा गंगापूजन पर पंचमुखी घड़ा, विवाह एवं सगाई पर सरवरमाट, करवा चौथ पर करवा पूजन के लिए इन पात्रों को विभिन्न अलंकरणों से सुसज्जित किया जाता है और सुख समृद्धि की आशा की जाती है । राजस्थान में अधिकतर बर्तनों पर शैलीबद्ध ज्यामितीय अलंकरणों की बहुलता मिलती है, जिनमें आड़ी तिरछी, खड़ी पड़ी रेखाओं के साथ वृत्त, अर्द्धवृत्त, वक्राकार रेखाएँ, त्रिकोणात्मक आकारों के बीच कहीं कहीं छोटी रेखाएँ, बिन्दु, सूर्य, पक्षी, लहरदार रेखाएं व फूल के अभिप्रायों का प्रयोग सामान्यतया पाया जाता है । बंगाल, बिहार की भांति यहां उर्वरता या तात्रि प्रतीकों का प्रयोग न होकर सरल प्राकृतिक चिन्हों का समावेश किया है जो कि ग्रामीण कृषि परम्परा के प्रमुख प्रतीक हैं । लाल या काले घड़े पर अधिकतर गेरू, चूना, खड़िया या कोयले से रेखात्मक चित्रण मिलता है ।

राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों का दौरा करते समय हमें छोटे छोटे मन्दिर पेड़ों के नीचे बने दिखाई देते हैं, जो बरबस ध्यान आकर्षित करते हैं । इन पर पकी मिट्टी की मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं और ग्रामीण लोग इनका पूजन करते हैं । अत: मृण मूर्तियाँ बनाने की परम्परा भी राजस्थान में सुदृढ़ है क्योंकि इसकी मांग पूरे वर्ष बनी रहती है । उदयपुर क्षेत्र में नाथद्वारा के पास मोलेला नामक गांव इन मूर्तियों के लिये चर्चित हैं । इस गाँव के लगभग सारे कुम्हार इन मूर्तियों को बनाने में व्यस्त हैं। सतह से थोड़ी उभरी हुई शैली में विभिन्न पौराणिक चरित्रों, हिन्दू देवी देवताओं व लोक देवी देवताओं

को हाथ से गढ़ा जाता है । फिर उन्हें पकाकर अत्यन्त चटकीले रंगों में चित्रित करके आकारों की बारीकियों को निकाला जाता है और आकर्षण के लिये उन आकारों को सुन्दर अलंकरणों व बिन्दुओं के द्वारा सुसज्जित किया जाता है । कहते हैं कि यह परम्परा छ : सौ वर्षों से चली आ रही है । आज भी मेव जाति के मूर्तिकार इन मूर्तियों को नीची जाति के मीणे, गिरासिये, तेली, भील, गदरी, गूजर, डांगी, धोबी, हरिजन आदि अपने अपने देवरों पर स्थापित करने के लिये क्रय करते हैं ।

मूर्तियाँ एक चौड़े चौकोर पट्ट पर मिट्टी चिपकाकर बनाई जाती है उसके ऊपर काफी मिट्टी लेकर उसे हाथ व उगुलियो द्वारा दबा कर एवं चिकोटी काट कर (Pressing and Pinching Method) और ऊपर से मिट्टी चिपकाकर (Applique) दोनों तकनीकों से रचित की जाती है । लकड़ी के खिलौनों की भाति इन्हें भी आदिम शैली में मोटा मोटा बनाया जाता है फिर ऊपर से तीव्र रंगों से इन्हें रंगा जाता है । अधिकतर आकृतियों को लाल, पीला, सिन्दूरी रंगों से रंग कर फिर कपड़ो में बिन्दियों द्वारा या रेखाओं द्वारा अलंकरण बना कर उसको पूर्ण किया जाता है । खनिज अथवा वानस्पतिक रंगों के प्रयोग की बजाय अब चित्रकारी के लिये रसायनिक रंगों व पोस्टर रंगों का उपयोग बढ़ता जा रहा है। रंग करके मूर्ति में ऊपर से वार्निश करने से उसमें चमक आ जाती है । रंगीन पन्नी का प्रयोग भी उसको आकर्षक बना देता है । देवी देवताओं में गणेश जी, लक्ष्मी जी, कृष्ण जी, हनुमान जी, श्रवण कुमार, गणगौर, पनिहारी, काली, चामुण्डा माता, अम्बा माता, रामदेव जी, धर्मराज, गोगा जी, देवनारायण जी की प्रतिमाएं उनके दक्ष हाथों द्वारा रचित होती रहती है । साथ ही पशुओं की आकृतियाँ जैसे हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, सांप, शेर इन देवी देवताओं के वाहन के रूप में और अलग से खिलौने के रूप में भी बनते हैं । पक्षियों में हंस, चिड़िया, तोता, बतख आदि भी दिखाई देती हैं । खिलौने विभिन्न त्यौहारों जैसे दीपावली, गणगौर, राखी, गणेश चौथ, दशहरा के लिये बनाते हैं । सभी मूर्तियाँ अत्यन्त आलंकारिक, आकृति प्रधान, पीछे से सपाट जिससे मन्दिर में खड़ी कर सके व सामने देखती हुई बनाई जाती हैं मुख्य आकृति केन्द्र में, बड़ी बीजनुमा आँखों वाली, बड़ा चौड़ा चेहरा, पैर हाथ की अंगुलियाँ अपरिपक्व शैली में बनती हैं । सभी आकृतियों की खुलाई काले रंग से की जाती है ।

19.08 गुदना, मेंहदी - मानव शरीर पर चित्र

ईश्वर ने प्रकृति व पशु पक्षियों को विभिन्न रंगों व पोतों से परिपूर्ण रचित किया है, किन्तु सबसे जटिल मानव को ही केवल एक रंग में गढ़ा है जो कि उदासीन लगता है । आज जनजातियाँ विभिन्न पख, छाल, हड्डी, फूल, पले पहन कर प्रकृति से तादात्म्य बनाने का प्रयत्न करती हैं । ग्रामों में मनुष्य ने अपने शरीर को एक कैन्वास की तरह प्रयोग किया है और कला को एवं कृषि, धर्म, विश्वासों से जुड़े प्रतीकों को अपने शरीर पर बना कर इच्छापूर्ति के लिये पारम्परिक गुदना, हथेली पर मेंहदी से अलंकरण करने की परम्परा आज भी जीवित है । अंग, जो चित्रित किये जाते हैं, वे बाह्य जगत से एक सम्बन्ध दर्शाते हैं और हाथ, पैर, मुख हमारे शरीर के सबसे संवेदनशील अवयव है और हर दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, इन्हीं पर गुदना करवाते हैं ।

शरीर पर गुदना बनवाना भारत में ही नहीं, अपितु पूरे संसार में प्रचलित है । जहाँ यह एक ओर शरीर के सौन्दर्य में वृद्धि करता है, वहीं दूसरी ओर ये विभिन्न अन्धविश्वासों से जुड़े हैं । कहते हैं अनगुदा शरीर असुरक्षित है व ऐसे के शरीर को मोक्ष प्राप्त नहीं होता । ग्रामीण स्त्रियाँ चेहरे के सौन्दर्य

के लिये माथे, भवें, नाक के इर्द गिर्द, ठोडी, गाल, होठ, आंखों के दोनों ओर व गर्दन पर रेखाओं व बिन्दुओं द्वारा कई अभिप्राय बनवाती हैं । आँखों के पास रेखाएँ- चिरल्या, तीन बिन्दु -तीन मन ज्वार, चार बिन्दु -चार मन ज्वार के प्रतीक बन जाते हैं । गले में हार, हाथ में अंगूठी, पोहंची, घड़ी आभूषण का के दर्शाती है इसके अतिरिक्त बाँह, छाती, पेट, पीठ, कूल्हे, जाँघ, टल, टखने, हथेली के पीछे की ओर विभिन्न अभिप्राय खुदवाए जाते हैं । खुले अंगों पर गुदना आवश्यक होता है । गुदने जाति विशेष के अलग अलग रूपरेखा होते हैं व कुछ अपनी रुचि के अनुसार बनवा लिये जाते हैं । कुछ धार्मिक अभिप्राय जैसे राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान, गणेश, लक्ष्मी, कृष्ण भी बाहों पर गुदवाये जाते है । भगवानों के नाम, पति का, पिता का नाम, स्वयं का नाम , स्वास्तिक, कलश, ओम, त्रिशूल भी कुछ प्रसिद्ध प्रतीक हैं । गाय, बैल, ऊँट, घोड़ा, मोर, बन्दर, चिड़िया, कावा, तोता, साँप, बिच्छू के साथ साथ फूल, पेड़, पौधे, गमला को बनाने का भी प्रचलन है । आम, कदम्ब, खजूर, बबूल, महुआ, बास, पीपल अत्यन्त शैलीबद्ध सरल आकारों में उभर कर हमारे सामने आती है और दर्शाती है कि परिवेश के प्रति उनकी जागरुकता है व यह उनके जीवन का अभिन्न अंग है । दैनिक कार्यो में काम आने वाली वस्तुएँ जैसे चूल्हा, घड़ा, कुआ, आड़, चौक, कटोरी, लौंग, शैया, कुंडी, थाली, तीर कमान, पंखी को भी शरीर पर स्थान मिला है क्योंकि यही इनकी धरोहर है । सभी अभिप्राय सरल व ज्यामितीय आकारों में ढाले जाते हैं । इनमें रेखाओं व बिन्दुओं की भरमार के कारण आलंकारिकता अधिक है । प्राचीन काल में गुदना बनवाने का उद्देश्य क्या था, यह कहना मुश्किल है । आधुनिक शहरी जीवन में धीरे धीरे इन्हें बनाने के उद्देश्य बदलते जा रहे हैं, इस कारण अलंकरणों के अभिप्रायों में परिवर्तन आया है । किन्तु फिर भी ग्रामीणों के जीवन की झलक इनमें हमें मिलती है । गुदना राजस्थान में स्त्री पुरुष दोनों ही करवाते हैं । किसी तीखे औजार या बबूल के कांटे से या सुई के प्रयोग से चमड़ी के ऊपर गोद कर उसमें काला रंग या राख, कालिख, आक के पत्तों के रस के साथ मिलाकर या तिल के तेल के साथ मिलाकर चमड़ी में भर देने से पक्के निशान बन जाते हैं । मेले में गुदना गोदने वाले बैठे रहते हैं आजकल बिजली की मशीन का उपयोग व गुदने के अभिप्रायों से भरी पुस्तिका भी देखने को मिलती है । अधिकतर छोटी उम्र में ही गुदना गुदवाया जाता है । अहीर, गयारी, गूजर, रेबारी, चांडाल, सांसी, भाभी, कसाई, बन्जारे, कालबेलिये, खटीक जातियों में गुदनों का प्रचलन अधिक है ।

मेंहदी से हथेली पर चित्रण भारतीयों के लिये नया नहीं है । यह प्रथा ग्रामों में कम होकर शहरों में अधिक विकसित हो गई है । राजस्थान में इसका प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है व इसका ओषधि, इत्र, रंगाई, छपाई, सौन्दर्य प्रसाधन की भांति उपयोग होता रहता है । राजस्थान की स्त्रियों ने उत्सवों के अनुसार उचित संकेतों, प्रतीकों को लेकर कलात्मक अभिप्रायों में उन्हें परिवर्तित किया है । मेंहदी का प्रयोग केवल शुभ कार्यों के लिये ही किया जाता है । इसमें गन्ध होने के कारण इसके साथ विभिन्न लोक विश्वास, अन्ध विश्वास व आस्थाएँ जुड़ी हुई हैं । यह आस्था ग्राम से शहर में भी आई है और यह सिद्ध करती है कि हमारा विकास ग्राम से ही हुआ है । अभिप्रायों में जीवन की दिनचर्या व दैनिक कार्य में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं का सुन्दर प्रयोग है व साथ ही ये परिवार की सुख समृद्धि का प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व करते है ।

राजस्थान का प्रमुख त्यौहार है 'गणगौर', जिसमें गण व गौरा की सवारी निकलती है और मेला लगता है । स्त्रियाँ बंधेज, चुनरी, पीला पोमचा, मोतीचूंदड़ पहनती हैं और इन्हें हाथों पर भी मेंहदी

द्वारा बनाया जाता है । त्यौहार पर बनी शकरपारा, घेवर, फेनी, रसगुल्ला आदि मिठाइयाँ भी हाथ पर रचित की जाती है । 'तीज' वर्षा ऋतु का त्यौहार है, इस कारण हाथों पर बेले, फूल, कमल बेल, मेंहदी का झाड़ू के साथ साथ चुनरी, लहरिया भी बनते हैं । गर्मी की ऋतु की आवश्यक वस्तुएँ जैसे चटाई, छबड़ी, हाथ की पंखी के सुन्दर नमूने दिखाई देते है । एक फूल चार बीजणी, बीजणी की भात, छोटी बड़ी बीजणी के साथ सिंघाडा भी बनाते हैं । स्त्रियों का आभूषणों के प्रति मोह हमें गोखरू, चूड़ी, पोहची, मूंदड़ी, हार, घड़ी द्वारा दिखाई देता है । 'होली' पर चंग, ढफ की आवाज पर फागुन के गीत रात को सुनाई पड़ते हैं और स्त्रियाँ मेंहदी के बूटों में इन्हीं को सजाती हैं, ग्रामीण खेल जैसे चकरी, पांच पछेटा, शतरंज, चौपड़ को भी ये बनाना नहीं भूलती, 'दीपावली ' पर पान, हटड़ी, शंख, पगल्या, सोलह दीपक, सुदर्शन चक्र, फूल, गलीचा, "मकर सक्रांती", पर घेवर, बीजणी, "करवा चौथ" पर छबड़ी, स्वास्तिक, 'रक्षा बंधन' पर लहरिया चौक, 'शादी' पर तोरण, कैरी, सिंघाड़ा, स्वास्तिक, कलश, फूल शतदल कमल को अति आकर्षण अलंकरणों में पिरोया जाता है । आश्चर्य होता है कि अनपढ़, गंवार कहलाने वाली स्त्रियों में सौन्दर्य का तत्व कहाँ से आया ।

बिच्छू प्रेम पीड़ा का. प्रतीक, तोता स्नेह, मछली स्त्रियों की आँख, कच्ची कैरी यौवन व कमल सौन्दर्य, कोमलता, शुद्धता को दर्शाता है । पेड़ पौधे टहनियाँ, बेलें, पानी, तालाब, प्रकृति, लहरें पानी व हरितिमा की ललक को दिखाती हैं । चक्र, स्वास्तिक धार्मिक आस्थाओं के उद्गार हैं ।

सभी अलंकरण ज्यामितीय व समतापूर्ण है । इनमें वर्ग, आयत, त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोणों के विविध उपयोग ,है। इनकी आवृत्ति पर खड़ी, पड़ी, वक्राकार, लहरदार रेखाओं द्वारा विभक्त कर उन्हें अत्यन्त मनमोहक व आकर्षक अलंकरणों। में परिवर्तित किया जाता है जिसका मुकाबला करना बहुत कठिन है ।

19.09 भित्ति चित्र - आकारद चित्र - देवरा, पथवारी, भित्ति, सांझी

सड़कों के मोड़ पर, अधिकतर पीपल के पेड़ के नीचे, खुले आकाश के नीचे छोटे छोटे मन्दिर बने होते हैं। जो हर जाति के अलग होते हैं व ये देव स्थान देवरे कहलाते हैं । कई देवरों में केवल एक दो चौकोर या त्रिभुज पत्थर पर पन्नी चिपकी रहती है या सिन्दूरी रंग लगे हुए या ऑखें चिपकी हुई दिखाई देती हैं । भीलवाड़ा, शाहपुरा, उदयपुर क्षेत्रों में बड़े आकर्षक देवरे देखने को मिलते हैं । इनमें देवनारायण जी का देवरा (सांप काटे का इलाज के लिये), माता जी का देवरा, रामदेवजी का देवरा, गोगाजी का देवरा, धर्मराज जी का देवरा, काला गोरा भैरूजी का देवरा पर ग्रामीण, शहरी, हिन्दू व मुसलमान सभी आते हैं । इसके अतिरिक्त धोबी, कुम्हार, भाटी, तेली के देवरे अलग बनते हैं, जिन पर उत्सव, विवाह, पूजन, जागरण समय -समय पर करते हैं ।

उदयपुर क्षेत्र में अधिकतर देवरों पर मोलेला में बनी पकी मिट्टी की मूर्तियों को पन्नी लगाकर व आँखें लगाकर प्राण प्रतिष्ठा की जाती है । अन्य क्षेत्रों में पत्थरों का ही उपयोग होता है । कहीं कहीं पत्थर की गढ़ी मूर्ति भी देखने को मिलती है । पीछे की दीवार पर चित्रकार को बुलाकर गणेश जी, दुर्गा माता जी, शेर, सांप, काला गोरा भैरू जी, केले का पेड़, त्रिशूल, पूजन करते हुए नर नारी बनवाए जाते हैं । इनमें प्राथमिक रंगों का प्रयोग किया जाता है और खुलाई काले रंग से की जाती है । द्विधात्मक, आदिम शैली में बने ये चित्र वास्तविक बनकर उभर कर आते हैं और ग्रामीण यहां- न्याय के लिये,

परिवार व बच्चों के शुभ के लिसे मन्नत मनाते हैं । जादू और रहस्य से परिपूर्ण ये देवरे ग्रामीणों को जीवन का सहारा देते हैं ।

कहीं कहीं वीराने में एक सफेदी से पुता एक छोटा सा मन्दिर भी दिखाई देता है, यह 'पथवारी' है पथ की रक्षा करने वाली देवी । अक्सर पथवारी गंगास्नान जाने पर बनवाई जाती है और आने के बाद इसका पूजन होता है । इस पर काला गोरा भैरूजी, कावड़िया वीर श्रवण कुमार, गंगाघट, केले के वृक्ष व दो बडी बड़ी आँखें सजीवता प्रदान करती हैं ।

घरों की दीवारें बहुत कहानियाँ कहती है । विशेष कर जिन घरों में विवाह सम्पन्न हुआ है, या दीपावली की पूजा हुई है या श्रीनाथ जी के भक्तों के यहां दीवारों पर पारम्परिक चित्र बनाने का प्रचलन है । विवाह के अवसर पर घर की दीवार के बाहर द्वार के ऊपर गणेश जी, रिद्धि-सिद्धि और दोनों ओर चंवरधारिणी या पनिहारिन, छड़ी दार, हाथी, घोड़े, ऊँट, शेर, पेड़ आदि चित्रित किये जाते हैं । कहीं कहीं दीवार पर मंडप, इसके नीचे बैठा मंडित, लाडा -लाडी व मंडप के दोनों ओर पंक्ति में बैठे स्त्री पुरुष विवाह की गतिविधियाँ दर्शाते हैं । विवाह पर लड़की व लड़के के परिवार के बीच मीठी नोंक झोंक, गालियों की बौछार के गीतों का प्रचलन है इस कारण चित्रों में भी कई बार लड़की के माता -पिता को चक्की को पीसते हुए चित्रित किये जाता है ।

देवरे, पथवारी व भित्ति चित्रों के चित्रकार एक ही होते हैं अतएव उनकी शैली समान है । विषय का अन्तर है ।

सभी चित्र आकृति प्रधान, आदिम शैली में बंधे, द्विविधात्मक व एक विशेष शैली में बनते हैं जो वर्ष दर वर्ष त्यों दीवारों पर चित्रित किये जाते हैं ।

सांझी पूजन की परम्परा राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, दिल्ली के आस -पास के क्षेत्रों में अब भी प्रचलित हैं । यह दशहरे से पूर्व श्राद्ध पक्ष में नवरात्रि में बनाई जाती है । कुंवारी लड़कियाँ सफेदी से पुती दीवारों पर लगातार पन्द्रह दिन गोबर से आकारों को उभारती हैं व उनका पूजन करती हैं । यह फसल काटने का समय होता है व कृषि की व्यस्त गतिविधियों के मध्य सांझी बनाने, उतारने व पूजन में लड़कियों, मग्न दिखाई देती हैं, यह राजस्थान में सांझी, संझुली, सांझुली, सिंझी, सांझल्दे हाँजी, हॉज्या आदि नामों से प्रचलित है । एक ही जाति की कन्याएँ मिलकर गोबर से आकार दीवार पर बनाकर उन्हें कांच के टुकड़े, मोती, चूड़ी, कौड़ी, पत्थर, पंख, कपड़ा, कागज, पन्नी, लाख के मोती, फूलपत्ती आदि के प्रयोग द्वारा दमकती हुई चित्ताकर्षक आकृतियाँ रचती हैं जो दीवार पर मोजाइक और म्यूरल जेजेएचएच की तरह प्रतीत होती है ।

सांझी को माता पार्वती मान कर अच्छे वर, घर की कामना से पूजा जाता है । पूजन व निर्माण की प्रक्रिया पीढ़ी दर पीढ़ी कन्याओं को हस्तांतरित की जाती है । प्रथम दिन से दस दिन तक एक दो ही प्रतीक बनाए जाते हैं । ग्यारहवें दिन से पन्द्रह दिन तक बड़े आकार की सांझी बनाई जाती है जिसे संझया कोट कहते हैं । राजस्थान में हर जगह अलग अलग अभिप्राय देखने को मिलते हैं । उदयपुर क्षेत्र में पहले दिन सूर्य, चन्द्रमा, तारे, दूसरे दिन पाच फूल, तीसरे दिन पंखी, चौथे दिन हाथी सवार, पांचवे दिन चौपड़, छठे दिन स्वास्तिक, सातवें दिन घेवर, आठवें दिन ढोलक या नगाडे, नवें दिन बन्दनवार व दसवें दिन खजूर का पेड़ बनाया जाता है । संझया कोट में बीच में सांझी माता सबसे बड़े आकार की व उनके चहुँ ओर के अन्तराल में अन्य मानवाकृतियाँ, पशु -पक्षी पेड़ गमले फूल आदि

कथानुसार लगाए जाते हैं कुछ आलेखों का सरलता व अमूर्तता की ओर झुकाव प्रतिबिम्बित होता है । आकार गतिहीन होते हुए भी म्यूरल की विशेषता रखने के कारण ध्यानाकर्षण करते हैं ।

19.10 मांडणा-भूमि अलंकरण

मांडना शब्द संस्कृत के मंडन शब्द का अपभ्रंश है जो राजस्थानी भाषा में 'मांडणा ' नाम से प्रयुक्त होता है । इसका शाब्दिक अर्थ है रेखांकित करना । मांडणा बनाने की परम्परा आदि मानव से प्रारम्भ हुई, जब उसने गुफाओं में इच्छापूर्ति के लिए चित्र बनाने प्रारम्भ किये । तब अभिप्राय आखेट से सम्बन्धित थे, किन्तु बाद में ये कृषि से संबंधित हो गए व अब ये उसी रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी चित्रित किये जाते हैं । महिलाएँ अपनी बेटियों को यह कला हस्तांतरित करती हैं । राजस्थान में कोटा की चम्बल घाटी, पुष्कर की पहाड़ियों, हाडौती संभाग के कन्यादेह पहाड़ियों में प्राप्त शिला चित्रों में आज के कुछ अमूर्त ज्यामितीय प्रतीक हमें दिखाई देते हैं ।

वैदिक काल में भूमि चित्रण के विभिन्न उल्लेख मिलते हैं । वात्सायन ने कामसूत्र में चौसठ कलाओं में इसे मणिभूमि का कर्म (रंगीन पत्थरों से फर्श सजाना) व वेदी अलंकरण (दालों व फूलों से यज्ञवेदी को सुसज्जित करना) मांडना के ही पूर्व स्वरूप हैं । 'शास्त्रोल्लास, 'प्रयागपारिजात', 'समरांगणसूत्रधार', आदि में भी भूमि अलंकरण व वेदी अलंकरण के उल्लेख हमें मिलते हैं । कुछ अभिप्रायों को अजन्ता के चित्रों ने गुफा की दीवारों पर बनाया । अजन्ता के चित्रों उमग्ग जातक, महाजनक जातक में इसी प्रकार के अलंकरण दिखाई देते हैं । मध्यकालीन राजस्थान में हस्तलिखित चित्रित पोथियों जैसे 'मालती माधव' 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'एकादशी महात्म्य', के कतिपय चित्रों में गेरू से पुते चौक में सफेद चूने से बने मांडने ऐसे लगते हैं, मानो आज ही बनाए हैं । ये मांडने घर को सुसज्जित करने के लिय, घर में मांगल्य, समृद्धि, शांति रखने के लिए बनाए जाते हैं । राजस्थान में कहावत है, जहाँ माडने बने हों, वहां देवी का निवास होता है और लक्ष्मी कभी घर छोड़ कर नहीं जाती। मांडनों से जुड़ी असंख्य कथाओं में से एक कथा यह भी है कि एक रात देवी लक्ष्मी रात को भागती हुई एक झौंपड़े में घुसी जिसमें दीपक जल रहे थे । उनके पैरों से खून निकल रहा था, इस कारण जब घर में घुसी तो चौक में उनके पैर छप गए । उस घर में रहने वाली स्त्री ने उनको कहां आप बैठिये और उन पैरों को अलंकृत मांडनों में परिवर्तित करती गई और वे बनाने समाप्त नहीं किये । देवी लक्ष्मी समझ गई कि वह उन्हें बैठाए रखना चाहती है । हंसकर उन्होंने वरदान दिया कि जिस घर में मांडने बनेंगे वहीं मेरा वास रहेगा व धन धान्य रहेगा । आज भी राजस्थान के हर क्षेत्र में गोबर पर सफेद से बने मांडने इनकी ध्येय पूर्ति करते हैं ।

मांडने हर त्यौहार पर अलग- अलग बनते हैं जैसे होली पर ढोलक, चंग, ढफ, ग्रीष्म ऋतु में कैरी, कमल, खाट, चटाई, दरी, पंखी, थाली, बाजोट, चन्द्रमा, सूर्य, पुष्प, गमले के बड़े, छोटे मांडने आकर्षक आकारों में चित्रित किये जाते हैं । रक्षा बन्धन पर श्रवण कुमार बनाना सर्व प्रचलित है । दीपांवली उत्तरी भारत का सबसे बड़ा त्यौहार है अत: ग्रामों में भी झोपड़ियों को गोबर, गेरू से या सफेद चूने से लीप कर सफेद, गेरू व पीली मिट्टी द्वारा पगल्या, सात्या, कमल, लक्ष्मी जी का आसन, दीपक, गणेशजी, पान, सुपारी, रूपया, बन्दनवार आदि के विभिन्न आकार देकर चित्रित किया जाता है । फूलों का गलीचा का अभिप्राय सबसे सुन्दर बन पड़ता है । सवाई माधोपुर क्षेत्र में दीपांवली पर बड़े बड़े अलंकरण विशेष बनाए जाते हैं । विवाह पर गणेश जी, फूल, पगल्या, मोर मोरड़ी, सात्या भी बनाए जाते हैं इनके

अतिरिक्त मोर मोरडी व सूर्य चन्द्रमा के साथ खाट, बिच्छू कुत्ता, मुर्गा, कौआ, हाथी, बस, ट्रेन, कार हवाई जहाज बनाने से भी कलाकार नहीं चूकते ।

चौक मांडने केवल रेखाओं द्वारा बनाए जाते हैं । इनमें मानवाकृतियाँ नहीं बनाई जाती । ये शुद्ध भारतीय अलंकरण अमूर्त व ज्यामितीय शैलियों का अद्भुत संगम है । एक बिन्दु या एक वर्ग या त्रिभुज के आसपास रेखाओं को बढ़ाते हुए अपनी कल्पना द्वारा अत्यन्त सहज रूप से सुन्दर नमूने बनाए जाते हैं ।

एनाक्षी मावनानी के मतानुसार -ये अभिप्राय धार्मिक रीति रिवाजों व उनके देवी देवताओं से आवश्यक रूप से जुड़े हैं ।

उदाहरण के लिए कमल का फूल ब्रहमांड के हृदय का प्रतीक है, जो शुद्धता व मांगल्य व लक्ष्मी का भी द्योतक है । वृक्ष जीवन व वृद्धि के, मछली उपजता व धन्य धान्य की. पीपल का पेड भगवान विष्णु का द्योतक है । इसके अतिरिक्त सुन्दर ज्यामितीय अलंकरण इस ब्रहमांड के रहस्यवाद व प्रतीकात्मकता को बताते हैं । 'हिन्दू धर्म के ये प्रतीक वैदिक काल में प्रारम्भ हुए होंगे किन्तु प्रतीकों की गूढता ग्रामीणों की समझ से बाहर है । वे इन्हें रटे रटाए अभिप्रायों की भांति पीढ़ि दर पीढ़ि प्रयुक्त करते रहे हैं । आज ये ग्रामीणों के विश्वासों, आस्थाओं का अभिन्न अंग हैं और वैयक्तिक अभिव्यक्ति न होकर सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में जीवित है ।

19.11 भारत की अन्य लोक कलाओं से तुलना

पिछले कुछ पृष्ठों में हमने केवल राजस्थान की ही बात की । यह कहना गलत नहीं होगा कि इतनी ही समृद्ध लोक चित्र शैली भारत के सभी प्रान्तों में प्रचलित है । बिहार में मधुबनी चित्र शैली जिसमें कपड़े, कागज, दीवार व चौक में चित्र बनाने की समृद्ध परम्परा है । महाराष्ट्र में रंगोली व पैठन लोक चित्र शैली, बंगाल में अल्पना काली घाट चित्र, घट चित्र, उड़ीसा के पट चित्र, गंजीफा ताश, गुजरात के भित्ति चित्र व चौक, दक्षिण की कलमकारी, कोलम, अनियाल मुग्गुलु के अतिरिक्त हर प्रान्त में अपने ही भूमि अलंकरण, सांझी, धार्मिक अनुष्ठानों पर चित्रादि बनाने की परम्परा भारत में आज भी सुदृढ़ है । सभी लोक कलाएँ हिन्दू धर्म से जुड़ी हैं और अधिकतर अभिप्राय भी एक से हैं । कहीं कहीं जैसे बिहार में उर्वरता से जुड़े अभिप्रायों की प्रमुखता है साथ ही देवी देवता, पौराणिक कथाएँ भी चित्रित हुई हैं । किन्तु अधिकतर प्रदेशों में खेतिहरों ने सम्पन्नता के लिए अभिप्रायों को चित्रित करना लगातार बनाए रखा ।

लोक कलाओं को कला के मापदंडों से मापना कठिन है । किन्तु अभिव्यक्ति में इन्हें कोई मात नहीं दे सकता । आधुनिक कला ने जो आज सीखा है, वह लोक कलाओं में पहले से ही उपस्थित है । उदाहरण के लिए आधुनिक कला के सरलीकरण, आकृति विघटन, सहजता एक धरातल पर कई घटनाओं का अंकन है, जो लोक कला की धरोहर है । इसी कारण कई आधुनिक कलाकारों ने लोक कलाओं से प्रेरणा लेकर अपनी कृतियों की रचना की है और भविष्य में भी लोक कला कलाकारों के लिये प्रेरणा का स्रोत रहेगी ।

19.12 इकाई सारांश

लोकचित्र चाहे भारत के हों, अथवा विदेश के, सभी की विशेषताएं एक समान हैं । जैसे लोक कला वैयक्तिक न होकर सामुदायिक प्रयास हैं । ये कलाएँ सदैव धर्म संस्कृति से जुड़ी होती हैं ।स्वतंत्र रूप से इनका अस्तित्व नहीं है । ये कलाएं सदैव सरल, अभिव्यक्ति पूर्ण व सांकेतिक होती हैं जो सभी दर्शक भली भांति समझते हैं । इनके कलाकार कहीं शिक्षा नहीं लेते और अभिप्रायों को ज्यों का त्यों पीढ़ी दर पीढ़ी चित्रित करते रहते हैं । इनमें परिवर्तन की गुंजाइश नहीं रहती है । ये कलाकृतियाँ प्रति वर्ष बनाई जाती हैं और इनका कोई न कोई उपयोग होता है । चित्र अलंकरण प्रधान होते हैं व इनमें हम ग्रामीणों के जीवन की झलक देख सकते हैं । ये चित्र उनके विश्वासों, अन्ध विश्वासों, धर्म आस्थाओं, अनुष्ठानों को दर्शाते हैं । ये प्रतीक ही इनको भय मुक्त करते हैं । इस कारण इनके जीवन का ये अभिन्न अंग है ।

राजस्थान क्योंकि पिछड़ा क्षेत्र है, इस कारण ग्रामों में अब भी वही पुराने संस्कार हैं । किन्तु शहर ग्रामों की ओर तेजी से दौड़ रहा है व ग्रामीण अपनी संस्कृति से तेजी से विलग होते दिखाई दे रहे हैं । समय के इस वेग से बहुत सी चीजें नष्ट होंगी, इनमें लोक कलाएँ सबसे पहले विलुप्त होंगी और इसके साथ साथ हमारी मूल्यवान धरोहर भी समाप्त हो जाएगी । आज हस्तनिर्मित पानों की जगह मशीन के छपे पाने, मांडना के प्लास्टिक के स्टिकर्स, फड़ के मशीन या स्क्रीन से छपे चित्र, मेंहदी के सांचे इनके विनाश के परिचायक हैं । ग्रामीण सभ्यता व संस्कृति के लोप के साथ इन सहज कलाओं का भी अन्त सबसे दु:खदाई होगा ।

19.13 शब्दावली

अभिप्राय	-	नमूना Motif
आकृति विघटन	-	आकृति के वास्तविक स्वरूप को तोड़ना
आदिम	-	अपरिपक्व Crude
काला गोरा भैरू	-	भैरव के दो रूप
खुलाई	-	बाहय रेखा
खनिज रंग	-	मिट्टी के रंग
गोगा जी	-	लोक देवता
गेरू	-	लाल रंग
धनवाद	-	पाश्चात्य आधुनिक कला की एक शैली
प्योड़ी	-	पीला रंग
पगल्या	-	लक्ष्मी जी के पैर
पोत	-	Texture
प्रमाण	-	नाम
पीरप्रेक्ष्य	-	क्षयवृद्धि
बाजोट	-	चौकी
बीजणी	-	हाथ की पंखी
भाट	-	एक जाती

मोर मोरडी	-	मोर मोरनी
मूंदड़ी	-	अंगूठी
तान	-	Tone
तेजाजी	-	लोक देवता
द्विविधात्मक	-	केवल लंबाई और चौड़ाई से बनाना
धर्मराज	-	युधिष्ठिर
चिरल्या	-	चिड़िया
जंगाल	-	हरासां
रेबारी	-	नीची जाति
रामदेव	-	लोक देवता
लाडा लाडी	-	दूल्हा दुल्हन
समता पूर्ण	-	Symmetrical
सांकेतिकता	-	प्रतीकात्मक
सात्या	-	स्वास्तिक
सरलीकरण	-	जटिल आकृति को सरल रूप में बनाना
श्री नाथ	-	श्री कृष्ण
Mosaic	-	छोटे रंगीन पत्थरों को दीवार पर चिपका कर चित्र बनाना
Mural	-	भित्ति पर कोई भी चीज चिपकाकार चित्र बनाना
हरतल	-	हरा रंग
हिरमिच	-	लाल रंग
हिंगुल	-	एक प्रकार का लाल रंग

19.14 अध्यासनार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये

1. राजस्थान की लोक चित्रकला पर एक निबन्ध लिखिये ।
2. लोक चित्र शैली की विशेषताएँ बताइये व कतिपय चित्रों के उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए ।
3. भीलवाड़ा, शाहपुरा में रचित फड़ शैली की कथाओं का संग्रह कीजिये व बताइये कि कथा अलग होते हुए भी क्या चित्रण एक सा है?
4. मेंहदी, मांडना के अलंकरणों के सौन्दर्य की व्यवस्था करते हुए उनमें छिपे संकेतों के बारे में बताइये ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 15० शब्दों में दीजिए ।

1. गुदनों के अलंकरणों को रेखांकित कीजिये ।
2. निम्नखिलित पर टिप्पणी लिखिये

1. बर्तनों पर बने चित्र
2. पथवारी
3. देवरा

4. पाने

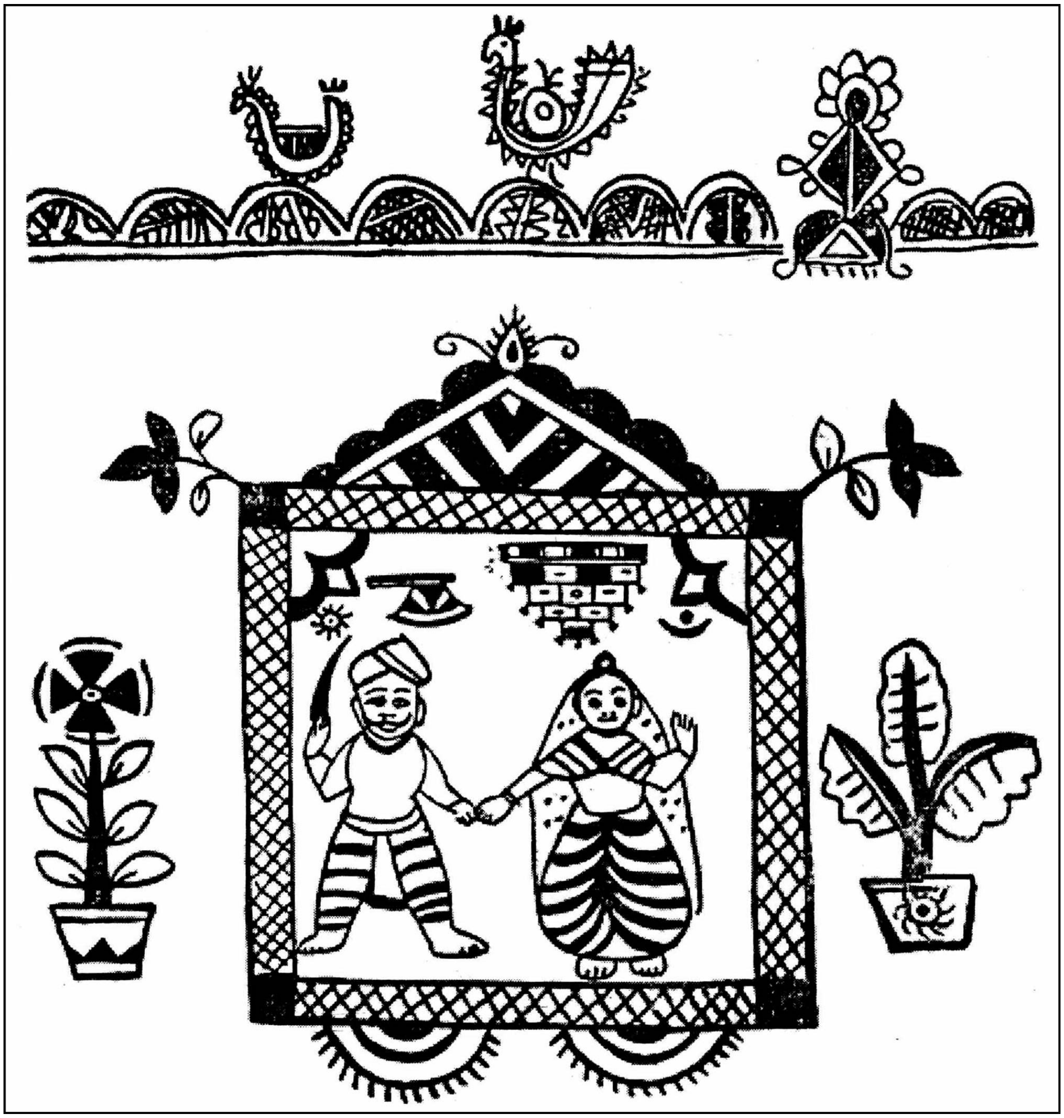

विभिन्न पशुओं के मांडणों के रूपान्तरित स्वरूप

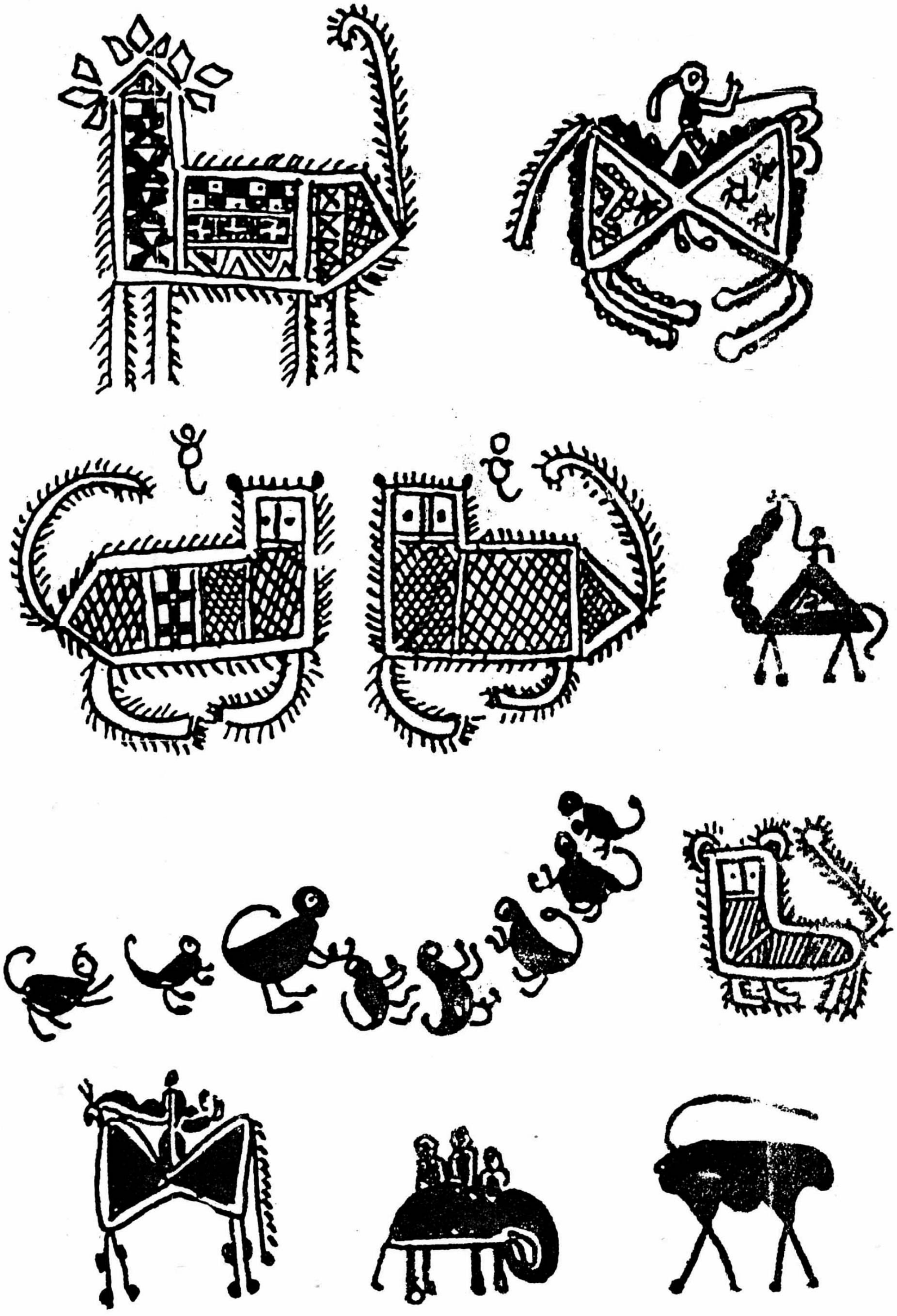

होड के विविध आधार

60

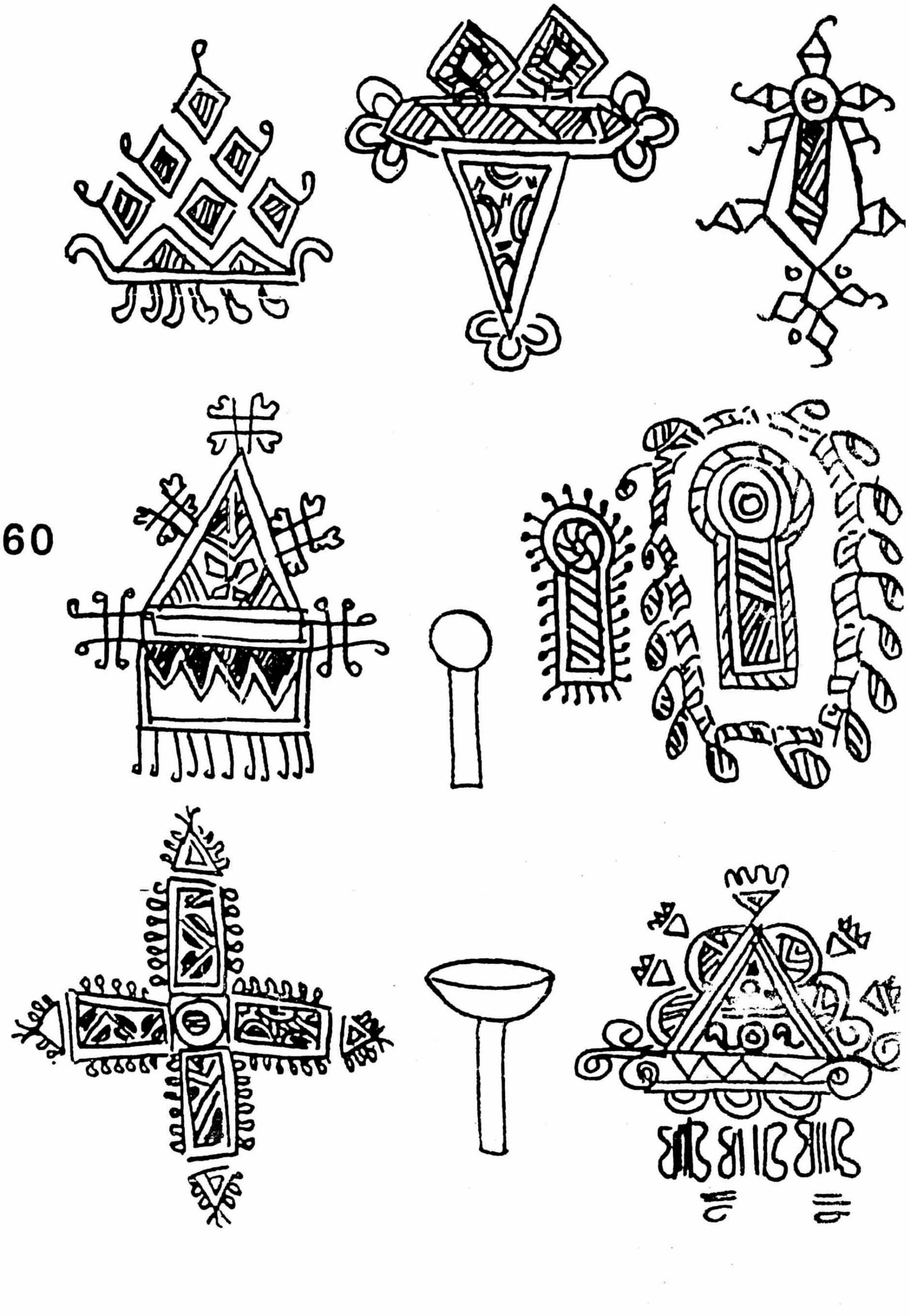

विविध मांडणें (चित्र 'द')

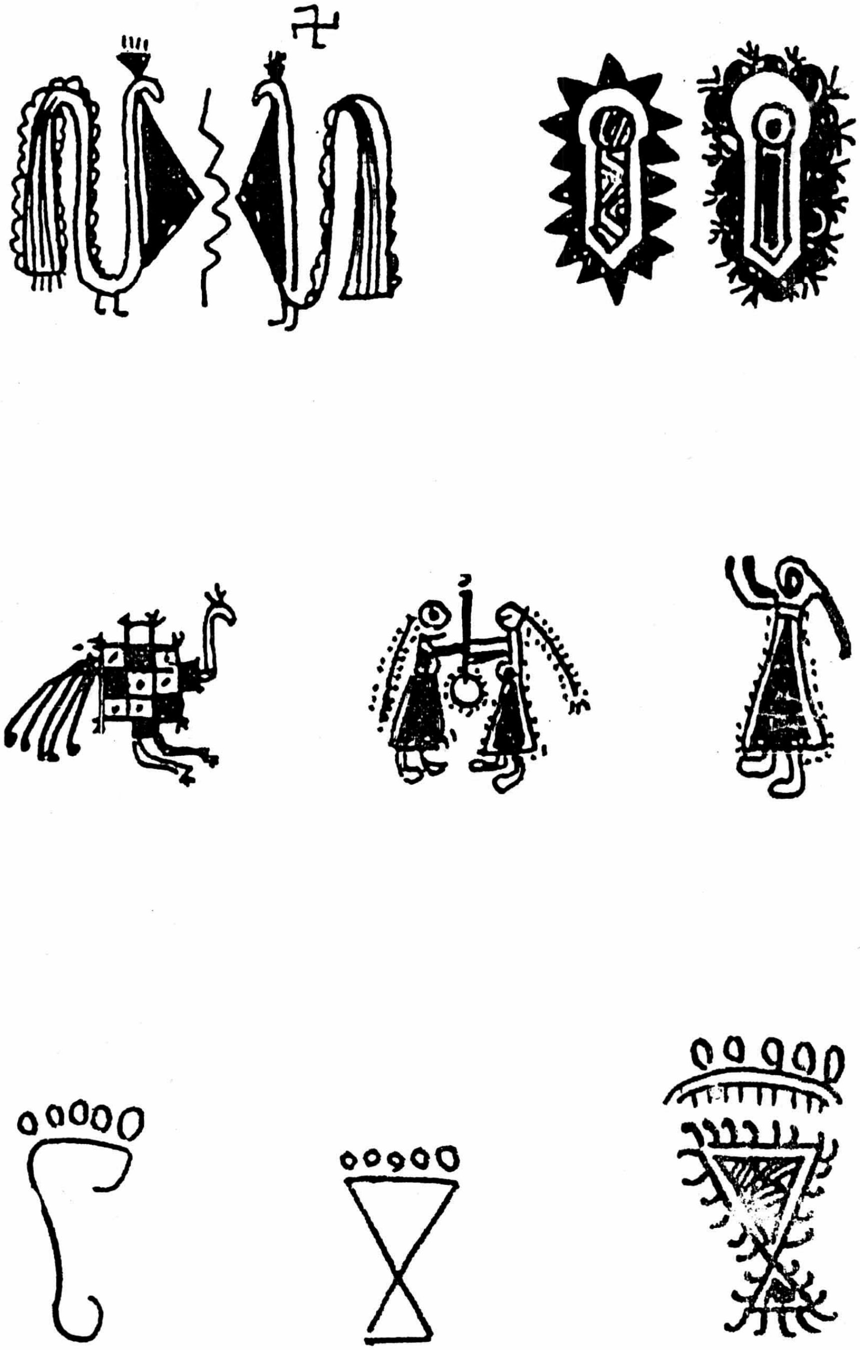

इकाई सं. 20 “राजस्थान में आधुनिक कला

इकाई संरचना

20.01 उद्देश्य
20.02 प्रस्तावना
20.03 आधुनिक कला के उद्भव की पृष्ठभूमि
20.04 आधुनिक कला का पोषण
20.05 राजस्थान में आधुनिक कला का विकास
20.05.1 राजस्थान शैली पर बाह्य प्रभाव
20.06 आधुनिक कला एवं कलाकार
20.07 इकाई सारांश
20.08 अभ्यासार्थ प्रश्न

20.01 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप समझ पायेंगे कि : -

1. राजस्थान की परम्परागत समृद्ध शैलियाँ किन परिस्थितियों में अपना वैभव खोने लगी थी ।
2. आधुनिक राजस्थान की चित्रकला के उद्भव की पृष्ठभूमि किस प्रकार तैयार हुई ।
3. आधुनिक चित्रकला के विकास में परम्परागत शैलियों एवं बाह्य प्रभावों ने किस प्रकार सहायता दी ।
4. वे संस्थाएँ जिन्होंने आधुनिक कला को संरक्षण एवं प्रोत्साहन दिया ।
5. स्वतंत्र अभिव्यक्ति की भावना किस प्रकार सृजन की ओर चित्रकला को ले जा रही है।

20.02 प्रस्तावना

भारतीय चित्र कला के विकास और उद्भव की लम्बी कहानी में एक बात स्पष्ट रूप से पढ़ी जा सकती है - वह है भारतीय कला की गतिशीलता । समय के साथ हर परिवर्तन को आत्मसात् करना और तदुपरान्त उस स्फूर्ति से गतिशील रहना । इस विशेषता के कारण ही भारतीय कला जीवन्त और विविधता से भरपूर है । भारत में आधुनिक कला आन्दोलन के संदर्भ में राजा रवि वर्मा या अमृता शेरगिल के समय से हटकर यदि भारतीय कला के वर्तमान स्वरूप के विगत के को को ढूंढें तो ऐसे दौर से इस आन्दोलन की चर्चा शुरू करनी चाहिए जहां दुनिया भर में परम्परागत जीवन शैली और सोच के स्तर पर एक भूचाल सा आ गया था और चारों ओर परिवर्तन की लहर चलने लगी थी । यह समय दो महायुद्धों के मध्य का भी है एवं बाद का भी है । इन युद्धों की समाप्ति के बाद दुनिया में परिवर्तन की एक रोमांचक प्रक्रिया शुरू हुई । जीवन के बनेबनाये ढाचे बदलने लगे । लोग अपने विगत से टूटते से दिखायी देने लगे । चित्रकारों के जीवन में संवेदनशीलता तो होती ही है । अत: उनके जीवन और संवेदना पर इस दौर का गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ।

इस प्रकार दुनिया में बदलाव के एक दौर की शुरुआत के साथ जिस प्रकार की कला से सृजन का प्रारम्भ हुआ उसे " आधुनिक कला " का सम्बोधन दिया जाता है । जीवन में परिवर्तन के साथ उसकी परछाई कला, साहित्य एवं अन्य सृजन प्रक्रियाओं में परिलक्षित होना एक स्वाभाविक कार्य है ।

20.03 आधुनिक कला के उद्भव की पृष्ठभूमि : -

राजस्थान में आधुनिक कला के उद्भव, विकास एवं आधुनिक कला के प्रति चेतना की चर्चा से पूर्व भारतीय आधुनिक कला की जड़ों को तलाशना आवश्यक होगा क्योंकि राजस्थान में आधुनिक कला प्रयोग और रचना - धर्मिता सम्पूर्ण भारतीय आधुनिक कला आन्दोलन से जुड़े हुए हैं । पूरे देश में आधुनिक कला आन्दोलन का जो सिलसिला रहा उससे पूरी तरह यहां की कला-चेतना सम्बद्ध रही है । दुनिया के अन्य देशों में भौतिक विकास की रफ्तार तेज होने के कारण आधुनिक

कला के संदर्भ में प्रयोग और विभिन्न 'वाद' और 'विचार 'बींसवीं सदी के दूसरे दशक में ही जहां रंग पकड़ने लगे, वहां के भारत में यह प्रवृत्ति एक -दो दशक बाद अपना रंग जमाने लगी ।

इस प्रकार जीवन के बदलते परिदृश्य में कला के क्षेत्र में नई दिशाओं की खोज प्रारम्भ हुई। अन्य देशों की तरह भारत में भी आधुनिक कला - आन्दोलन कोई संयुक्त निरन्तरता लिए हुए नहीं हैं । 1940 के दशक तक यहां-वहां विदेशी कला प्रभावों या अपने भीतर की छटपटाहट को कोई मुक्त शैली के रूप में या बने -बनाये परम्परागत ढांचेगत शैलियों से हटकर कुछ चित्रकारों ने कला में नये मुहावरों की खोज या नई दिशाओं की ओर बढ़ने का प्रयास किया । इस समय दुनिया भर में परिवर्तन की एक हलचल मची थी और भारत में भी कला के क्षेत्र में यह हलचल पैदा हो चुकी थी ।

बने -बनाये कला -शैलियों के ढांचे से हटकर कुछ करने के संदर्भ में एम. एफ. हुसैन के ये शब्द उस समय के भारतीय कला में आये बदलाव की ओर संकेत करते हैं "सन् 1945 में" मैं उन कुछ चित्रकारों के साथ था, जो अपनी जड़ों को तलाशना चाहते थे । ब्रिटेन की रॉयल अकादमी आदि स्कूलों की तर्ज पर शासकीय शिक्षा दी जाती थी । हमने उस तरह की शैली का विरोध किया । हम अपनी निजी कला - भाषा की खोज करना चाहते थे । पश्चिमी की तकनीक का इस्तेमाल तो करना चाहते थे परन्तु वहां की परिकल्पना और सोच से हटकर हमारा लक्ष्य निश्चित था, हम पश्चिमी तकनीक और पूर्व की अवधारणा के बीच एक पुल की तलाश करना चाहते थे ।"

भारतीय चित्रकारों के इस प्रकार के सोच ने भारत में आधुनिक कला आन्दोलन को एक ठोस जमीन दी । इस सोच के परिणामस्वरूप भारतीय आजादी के बाद आधुनिक कला- आन्दोलन ने रफ्तार पकड़ना प्रारम्भ किया । यह वह समय था जबकि बंगाल स्कूल के प्रभाव से मुक्त होकर कला क्षेत्र में अमृता शेरदिल, रविन्द्रनाथ टैगोर, जैमिनी राय रख बम्बई के 'प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप' की ओर झुकाव बढ़ने लगा । आजादी से पूर्व बंगाल स्कूल कलकत्ता ग्रुप (1942), बम्बई के प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप (1946), मद्रास के कलाकार समूह आदि का प्रभाव बढ़ने लगा था । इस प्रकार कला के क्षेत्र में देश के विभिन्न भागों में शुरु किये गये कला प्रयासों से चित्रकारों को अभिव्यक्ति के धरातल खोजने और अपनी अपनी कला में नये मुहावरों का इस्तेमाल करने में मदद मिली । भारत की आजादी ने दुनिया के अन्य देशों से सम्पर्क के रास्ते खोले । इससे भी भारतीय कला को एक विस्तृत आधार एवं परिचय मिला । चित्रकला के मार्ग में मुक्त अभिव्यक्ति के लिये नई सम्भावनाएँ बनी ।

20.04 आधुनिक कला का पोषण : -

कुछ समय तक चित्रकारों के समूह बनने का दौर चलता रहा । लेकिन इसमें फिर एक बड़ा परिवर्तन आया । ये समूह टूटने लगे क्योंकि चित्रकार स्वयं अपनी संवेदना, सोच और अनुभूतियों से प्रेरित होकर स्वच्छन्द सृजन की ओर उम्मुख होने लगे । यह बात खासतौर से बम्बई हुए को प्रभावित करने वाली साबित हुई । किसी समूह के घेरे में न रहकर, अपनी व्यक्तिगत शैली विकसित करने या अपने निजी मुहावरे का प्रयोग करने की प्रवृत्ति का आरम्भ विनोद बिहारी मुखर्जी (शान्ति निकेतन) और शैलोज मुखर्जी (बम्बई) ने किया । इस रास्ते पर फिर हैब्बार, हुसैन, पलसीकर, गाईतोडे, अकबर, पदमसे, तयब मेहता, बी. प्रभा आदि भी चलने लगे । इन चित्रकारों ने विविध प्रयोगों, तकनीकों और मुहावरों से समसामयिक कला आन्दोलन की नीवें डाली । इसके बाद लोग जुड़ते गये और कला आन्दोलन बल पकड़ने लगा । कलकत्ता ने कर्माकर, सोमनाथ होरे, गणेश पायने आदि कलाकारों को उभारा तो दिल्ली में चित्रकार रामकुमार, बिरेन डे कृष्ण खन्ना, सतीश गुजरात, स्वामीनाथन् लक्ष्मण पै, शान्ति दवे आदि कलाकार सक्रिय हुए । हैदराबाद में विद्याभूषण, लक्ष्मा गौड, पी. टी. रेडी आदि के नाम उभरे। बड़ौदा में विश्वविद्यालय स्तर पर ग्राफिक्स के क्षेत्र में पहल हुई । इस प्रकार पूरे देश में आधुनिक कला के पोषण का उल्लेखनीय कार्य होने लगा ।

परम्परागत भारतीय चित्रशैलियों एवं चित्रकला के विधि विधान की शास्त्रीय सीमाओं से कटकर स्वच्छन्द रूप से कला - कर्म के विकास की शुरुआत का कोई निश्चित समय -बिन्दु नहीं है । बदलते सामाजिक -परिवेश और समाज की जरूरतों के अनुसार कला क्षेत्र में परिवर्तन होते गये । गत कुछ दशकों में जीवन शैली के बदलाव के साथ कला भी विभिन्न परिवर्तनों या 'वादों' के दौर से गुजरी । जीवन के सम्पूर्ण परिवेश में बहुत कुछ टूटा या 'डिस्टोर्ट' हुआ है और यही बिखराव या 'डिस्टोर्शन' कला में भी परिलक्षित हुआ है । औद्योगिक एवं तकनालॉजी के परिवर्तनों एवं वैज्ञानिक प्रगति का गहन प्रभाव न केवल आम आदमी के जीवन में पड़ा है बल्कि परम्परागत बिम्ब और प्रतिबिम्ब टूटे हैं और कला में अमूर्तन भी आया है ।

1950 के पूर्व तक विषय -वस्तु से हटकर रेखाओं और टैक्स चूर की ओर रुझान तथा रंगों और 'डिस्ट्रोशन ' की ओर बल देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । 1950 के बाद अमूर्त कला का कुछ समय दबदबा रहा । कई व्यक्तिगत मुहावरे' उभरे । 1960 के आसपास यह अमूर्तन, कोलॉज एवं अन्य रूपों में आया । इस दशक में अमूर्त के विविध रूपों की अभिव्यक्ति हुई । इसके बाद तान्त्रिक फार्मूला एक फैशन के रूप में चला । भारतीय परिवेश के समृद्ध 'मोटिफ' और लोककला के स्रोतों को लेकर भारतीय कला आन्दोलन का एक नया रूप उभरा । 1960 के दशक के आसपास आधुनिक कला की जड़ें पक्की हुई और कई नये और प्रतिभावान चित्रकार उभरे । इसके बाद का काल भारतीय आधुनिक कला के पोषण एवं समृद्धि का काल रहा है और सारे वाद -विवादों एवं भ्रान्तियों को पारकर के भारत में आधुनिक कला की ठोस पहचान कायम हुई है । विश्व -स्तर पर भारत की आधुनिक कला की छाप पड़ी है और यह यात्रा जारी है ।

20.05 राजस्थान में आधुनिक कला का विकास : -

आधुनिक कला आन्दोलन की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में राजस्थान के चित्रकारों के योगदान की चर्चा करें तो यह कहा जा सकता है कि विश्व-युद्धों के बाद जो परिवर्तन की लहर पैदा हुई उसके साथ-साथ भले ही आधुनिक चित्रकला की यात्रा राजस्थान में शुरु नहीं हुई हो परन्तु आजादी के बाद भारतीय स्तर पर चित्रकला की शैलीगत एवं सोच के स्तर पर जो गति थी, उसकी गरमाहट से 1960 के दशक में एक माहौल बनने लगा । कई युवा चित्रकार परम्परागत शैलियों से हटकर सृजन करने लगे ।

राजस्थान के परम्परागत एवं रियासतकालीन जीवन में परिवर्तन की गति तेज नहीं होने के कारण यह आभास होने लगता है कि चित्रकार भी संवेदना के स्तर पर परम्परा की लकीर से बंधे हुए थे । कला जगत् के परिवर्तनों की ओर चित्रकारों का रुझान देरी से जागत होने का भी भ्रम उत्पन्न होने लगता है । लेकिन विभिन्न रियासतों में चित्रकारों को राजा -महाराजाओं के पूर्ण संरक्षण में विभिन्न लघुचित्र शैलियों का मोहक एवं समृद्ध संसार रचने की परम्परा का आजादी के बाद टूट जाना और चित्रकारों के समक्ष अपनी क्षमता और अपनी तूलिका के आधार पर सृजन के लिए स्वछन्द होना, एक नये दौर का संकेत था । राजस्थान में कला के नवीन मार्ग प्रशस्त करने में महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट्स , जिसका नाम स्वतन्त्रता के पश्चात् राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट हो गया, का प्रमुख योगदान रहा । संस्था में असीत कुमार हलदार, के.के. मुखर्जी एवं शैलेन्द्र नाथ डे जैसे चित्रकारों के निर्देशन में राजस्थान में बंगाल स्कूल की परम्परा पर वॉश पद्धति से पौराणिक एवं जनजीवन के काल्पनिक व शैलीबद्ध चित्रण का सिलसिला प्रारम्भ हुआ ।

कला के पोषण की दृष्टि से देश में नाट्य, संगीत, साहित्य और कला के विकास की एक नई परिकल्पना के संदर्भ में देशभर में हर विधा के लिए अकादमियों की स्थापना की गई और इस प्रसंग में राजस्थान ऐसा राज्य था जहाँ राजस्थान ललित कला अकादमी की स्थापना आजादी के दस वर्ष बाद 1957 में सबसे पहले की गई । कला का सीधा रिश्ता - जनजीवन से है । राजमहलों और दुर्गों की दीवारों और सामन्तों के मनोरंजन, राजनैतिक एवं धार्मिक आस्थाओं एवं विश्वासों की परिधि से मुक्त होकर कला-सृजन के नये रास्तों पर चलने की संघर्षमय कहांनी का छोर राजस्थान के भौगोलिक और सामाजिक जीवन के संदर्भ में देखा जाना चाहिए । प्राकृतिक विपदाओं से आक्रान्त रेतीला प्रदेश, राजस्थान - अपनी प्राकृतिक और भौगोलिक विषम स्थितियों के कारण लगता है कि दूर दूर तक बालू के टीलों वाला मरू प्रदेश है जहां आदमी को जीने के लिए कठोर श्रम करना पड़ता है और कठिन परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष के साथ थन। पड़ता है । ऐसे में, संवेदना के स्तर पर कला. संगीत, नृत्य आदि के मुलायम सांस्कृतिक धागों का बुनना मुमकिन नहीं लगता लेकिन राजस्थान के मोहक रंग और यहां की बालू के टीलों पर रात -दिन बनती -बिगड़ती रेखाऐं एक समृद्ध सांस्कृतिक धारा के निरन्तर प्रवाह की साक्षी है जो आश्चर्य में डाल देने वाली है ।

दरअसल, राजस्थान की माटी में एक ऐसी गंध है, जो विविध कला विधाओं को गौरवमय कर देती है और हवा में संगीत बिखेर देती हैं । यहां कला -चेतना का एक सागर लहराता है जिसका ओर -छोर व्यापक और विस्तार से पूर्ण है । राजस्थान की भिन्न भिन्न रियासतों में पनपकर पूर्णता को पहुंची राजस्थान की मिनियचर या लघुचित्र शैलियों की धाक न केवल भारतीय कला जगत तक सीमित है बल्कि विश्व का कला संसार भी इन शैलियों से चमत्कृत है । अनेक अनाम चित्रकारों ने

सामन्तों के कला -प्रेम और संरक्षण के बीच अपना जीवन समर्पित करते हु ए रंग शैलियों का एक मोहक संसार रचा है जिसके दर्शन जयपुर, बूंदी, कोटा, मेवाड, किशनगढ़, जोधपुर, बीकानेर, नाथद्वारा, अलवर आदि के नाम से विख्यात लघुचित्र -परम्परा में कर सकते हैं । इसलिए यह स्वाभाविक है कि राजस्थान का नाम आते ही एक विचित्र चित्र शैत्रियों का मोहक संसार दृष्टि में उभरने लगता है ।

परन्तु परम्परा के बने -बनाये ढांचे से हटकर भी राजस्थान में समसामयिक कला के विकास के दृष्टि से कम सृजन नहीं हु आ है । गति का जो वेग जहां के सृजन में है, उसके दर्शन राजस्थान के आधु निक कला सृजन में किये जा सकते हैं । पूरे देश में जिस प्रकार विभिन्न समूहों एवं चित्रकारों की संस्थाओं का प्रार्दुभाव हु आ, ठीक उसी प्रकार चित्रकारों ने चित्र -प्रदर्शनियों, कला -संगोष्ठियों आदि कला के विकास में योग देने वाली गतिविधियों का आयोजन विभिन्न कला संस्थाएं बनाकर किया ।

राजस्थान के कई चित्रकार ऐसे हैं जिन्होंने शान्ति निकेतन, बम्बई, स्कूल ऑफ आर्ट आदि में शिक्षा ग्रहण की । कुछ चित्रकारों ने इंग्लैण्ड जाकर कला -शिक्षा प्राप्त की । इसके अलावा राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट, जयपुर में देश के अन्य भागों के कला शिक्षक आये और आजादी के बाद स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालय -स्तर पर कला -शिक्षण को बढ़ावा मिला । सम्प्रेषण -माध्यमों ने भी कला के क्षेत्र में आये परिवर्तनों को उजागर किया । इस सारी प्रक्रिया ने राजस्थान के कला परिदृश्य में एक हलचल पैदा की और लीक से हटकर कला - धार्मिक या प्रयोगधर्मिता के क्षेत्र में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हु आ ।

20.05.1 राजस्थान शैली पर बाह्य प्रभाव : -

आजादी से पूर्व दशक में बंगाल स्कूल के प्रभाव का जो बोलबाला था, उससे राजस्थान के चित्रकार भी प्रभावित हु ए । असित कुमार हल्दार, के. के. मुकर्जी, शैलेन्द्र नाथ डे एवं इनके शिष्य राम गोपाल विजयवर्गीय ने वॉश एवं टेम्परा शैली में काम शुरु किया । राजस्थान में 1960 के दशक में राम गोपाल विजयवर्गीय, मोनी सान्याल, बी. सी. गुई गोवर्धनलाल जोशी, द्वारका प्रसाद शर्मा, रामनिवास वर्मा, कोटावाला, देवकी नन्दन शर्मा, कृपालसिंह शेखावत और पी.एन. चोयल जैसे चित्रकार आधु निक कला जगत में उभरे । बी.सी. गुई ने प्रकृति -चित्रण में अपनी अलग छवि बनाई । पी.एन. चोयल भी सीधे आधु निक कला मुहावरों से जुड़े । प्रो आर.वी. साखलकर ने आधुनिक रूपाकारों एवं ग्रामीण जीवन को रूपायित किया । स्व. भूरसिंह शेखावत ने, जो जे. जे. स्कूल ऑफ आर्टस से अध्ययन करके आये थे, पिलानी में शिक्षण के माध्यम से कई कला-प्रतिमाओं को प्रेषित करने के साथ साथ ग्रामीण-जीवन के यथार्थ का रोमांचक चित्रण अपने चित्रों में करते हु ए राजस्थान में आधु निक कला के विकास का एक रोमांचक अध्याय लिखा है । एल. आर. पेंढारकर भी लीक से अलग थे ।

उस समय कृपालसिंह शेखावत पर शान्ति निकेतन की टेम्परा शैली का गहन प्रभाव था और वे शान्ति निकेतन की टेम्परा शैली में चित्र बना रहे थे । रामनिवास वर्मा की कृतियों में अलंकरण से हटकर एक प्रकार की ग्रामीण सरलता की झलक थी । देवकी नन्दन शर्मा ने शांति निकेतन के प्रभाव और राजस्थानी कला परम्परा के मध्य का मार्ग अपना रखा था । भूरसिंह शेखावत, बी. सी. गुर्द तथा कोटावाला यूरोपियन परम्परा से प्रभावित थे । गोवर्धन लाल जोशी भीलों के जीवन को आकृति मूलक अभिव्यक्ति देने में व्यस्त थे । द्वारका प्रसाद शर्मा भी अपनी निजी शैली की तलाश में थे । पी.एन. चोयल अभिव्यंजन, यथार्थ और प्रभाव के बीच अपनी अभिव्यक्ति का उपयुक्त रास्ता ढूढ रहे थे ।

इन चित्रकारों की कृतियों की पहली प्रदर्शनी का आयोजन 1960 में राजस्थान ललित कला अकादमी द्वारा दिल्ली में किया गया । आजादी के बाद आये द्वितीय चरण के दौर में राजस्थान में वास्तववादी चित्रांकन का शुभारम्भ भी हो गया था । श्री भूरसिंह शेखावत ने जे जे. स्कूल ऑफ आर्ट, बम्बई की वास्तवादी चित्रण परम्परा को राजस्थान के जनजीवन, दृश्यावलियों एवं व्यक्ति चित्रण के विविध रूपों को जल रंग, टेम्परा एवं तैल चित्रण तकनीक से निजी शैली का चित्रण किया । इस दौर को आगे बढ़ाने में साखलकर, ओमदत्त उपाध्याय, रमेश गर्ग, रणजीतसिंह चूड़ावाला को श्रेय जाता है । परन्तु इसे सशक्त रूप से ले जाने वालों में मोहन शर्मा के सृजन कर्म को अधिक पहचान मिली । उन्होंने ज्यामितिक सरलीकरण में संयोजन व रंगों के बखूबी चयन के साथ रंग फ्यूजन के तकनीकी कौशल से महत्व चित्रों को अपनी तूलिका प्रदान की । कोटावाला के व्यक्तिचित्रों का भी इसमें विशेष महत्व है ।

उस समय एक ओर नई शुरुआत हुई जिसने राजस्थान में आधुनिक कला के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया । राजस्थान विश्वविद्यालय ने कला -शिक्षा का पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया । सन् 1963 - 64 में वनस्थली विद्यापीठ, डी.ए. वी. कॉलेज अजमेर एवं उदयपुर विश्वविद्यालय में कला की स्नातकोत्तर पढ़ाई की शुरुआत हुई । इससे कला के नये प्रवाह और विकास के नये रास्ते खुले । बम्बई, बड़ौदा, शांतिनिकेतन आदि देश के उस समय के अच्छे कला-केन्द्रों से, प्रशिक्षित होकर आये चित्रकारों एवं चित्रकार -शिक्षकों ने भी राजस्थान में कला को गति प्रदान करने एवं एक कलामय वातावरण बनाने में गहरी भूमिका निभाई ।

1960 के दशक में अजमेर, जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर आदि कई ऐसे स्थान है- जहां आधुनिक कला चेतना की हलचल बढी । कई युवा चित्रकार सक्रिय हुए । इन चित्रकारों ने अनेक कठिनाईयों के बावजूद राजस्थान में आधुनिक कला की पहचान कायम करने का सिलसिला चलाया और पूरे भारत की कला चेतना के साथ चलते हुए राजस्थान में कला को पुष्ट किया । इनमें से कुछ चित्रकारों की कृतियों पर देश -विदेश के आधुनिक चित्रकारों का प्रभाव उस समय झलकता था । परन्तु, समय के साथ अपने निजी प्रयोगों एवं मुहावरों का विकास करते हुए कई नाम उभरे ओर उन्होने अपनी प्रतिमा की चमक छोड़ी । कुछ चित्रकारों ने राजस्थान की लघु चित्रकला के बिम्बों -प्रतिबिम्बों, शिल्प और सौन्दर्य का प्रयोग करते हुए भी प्रयोग किये ।

20.06 आधुनिक कला एवं कलाकार :-

राजस्थान में आधुनिक कला के विकास की यात्रा में स्वतन्त्रता के पश्चात् के दो दशक तो संघर्ष से पूर्ण थे । इस समय आधुनिक कला के प्रति अनेक भ्रान्त धारणाऐं थी । साथ ही आधुनिक कला के प्रति आम रुझान भी बहुत कम था । चित्र -प्रदर्शनियों के लिए जयपुर जैसे नगर में भी कोई कला दीर्घा या ऐसे उपयुक्त स्थान का अभाव था जहां चित्र --प्रदर्शनियां आयोजित की जा सकें या कला चर्चाएं आयोजित करके कला को प्रोत्साहन दिया जा सके । आधुनिक चित्राकृतियों को खरीदने वाले भी गिनती के लोग थे और चित्रों की कीमत भी नगण्य स्तर पर थी । कई युवा चित्रकार इन स्थितियों में कुण्ठा के शिकार हुए तो कुछ ने लघुचित्रों की अनुकृतियो के क्षेत्र में जीविका की तलाश की । लेकिन कई युवा चित्रकार अपने रास्ते पर डटे रहे और ऐसे ही चित्रकारों ने राजस्थान में आधुनिक चित्रकला के विकास का मार्ग प्रशस्त किया ।

पन्ना जैन, रमेश गर्ग, गोवर्धन पंवार, सुशील कुमार, पारस भंसाली, रणजीतसिंह, चन्द्रसिंह भाटी जैसे चित्रकारों ने बम्बई स्कूल ऑफ आर्ट्स से कला -शिक्षा ग्रहण की और राजस्थान के आधुनिक कला विकास में गहन योग दिया। 1970 के दशक में आधुनिक कला सृजन से जुड़े नामों में डा. प्रेमचन्द गोस्वामी, स्व. मोहन शर्मा, सुमहेन्द्र, आर. वी. गौतम, शब्बीर हसन काजी, विद्या सागर, ज्योतिस्वरूप, सुभाष केकरे, लालचन्द मारोठिया, शैल चोयल आदि की सक्रिय भूमिका रही । कला -प्रदर्शनियों, संगोष्ठियों एवं अन्य माध्यमों से इन चित्रकारों ने राजस्थान में आधुनिक कला की जमीन को मजबूती देने का कार्य किया ।

बंगाल स्कूल के प्रभावित चित्रकारों के साथ की एक पीढ़ी भी इस बीच सक्रिय रही। गोवर्धन लाल जोशी, सोभागमल गहलोत, वीरेन्द्र नारायण, रामनिवास वर्मा, घोष बाबू देवकीनन्दन शर्मा आदि ऐसे चित्रकार हैं जो शान्ति निकेतन से निकले और नन्दलाल बोस की परम्परा को जिन्होंने पुष्ट किया। इसके साथ ही राजस्थान की कला समृद्धि में गत कुछ दशकों में जो नाम सामने आते हैं, उनमें भवानी शकर शर्मा, मीनाक्षी भारती, समन्दरसिंह खंगारोत, दीलिपसिंह, ललित शर्मा, किरण मुडिया, नाथूलाल वर्मा, रंजन गौतम, कन्हैयालाल वर्मा, आर. के. वशिष्ट, रामेश्वर सिंह, वसन्त कश्यप, बीरबाला भावसर, अब्बसा अली आदि शामिल हैं ।

इसके साथ ही ऐसे अनेक लोग हो सकते हैं जिनका नामोल्लेख नहीं हो सका हो, लेकिन जिन्होंने अपने स्तर पर आधुनिक कला सीखने में योग दिया है। व्यक्तिगत-स्तर पर अपने अपने कार्य से जहां कई चित्रकारों ने कला -सृजन किया है वहां प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप, टखमण, आज, रंगबोध, तुलिका कलाकार परिषद् कलावृत आदि कला -संस्थाओं का भी योग कम नहीं है, जिन्होंने चितेरों को संयुक्त रूप में अपनी कला -यात्रा जारी रखने में सहयोग दिया ।

राजस्थान ललित कला अकादमी कला मेलों, कला -गोष्ठियों, विभिन्न कला -प्रकाशनों, वार्षिक एवं अन्य प्रदर्शनियों, मोबाईल प्रदर्शनी वाहन, कला -शिविरों आदि कई गतिविधियों की दृष्टि से अपना महत्व रखती हैं। लेकिन इसका संविधान अब बहुत पुराना और समय की मांग के अनुरूप नहीं रहा है। संस्था को मिलने वाला अनुदान भी वर्तमान की जरूरतों की दृष्टि से अपर्याप्त है। अनुदान का अधिकांश भाग तो प्रशासनिक व्यय में ही चला जाता है ।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजस्थान की आधुनिक कृतियां अपनी स्पष्ट छाप छोड़ने की क्षमता रखती है लेकिन यहां के चित्रकारों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य पर स्थापित करने की दिशा में अकादमी के प्रयासों को और गति देने की आवश्यकता है। कला समीक्षकों की भी कमी है और जो लोग कला -समीक्षाओं या कला -लेखन के माध्यम से राजस्थान की आधुनिक कला के प्रचार -प्रसार में अहम् भूमिका निभा सकते हैं, उनके लिए कोई सोच या नीति नहीं है। हक्सर कमेटी ने सांस्कृतिक नीति के लिए जो रिपोर्ट दी है, उसमें कहां गया है कि जो लोग कला एवं संस्कृति को समझते हैं, उन्हें ही कला या संस्कृति की नीति -निर्धारण करने के लिए शामिल करना चाहिए। वैसे राजस्थान ललित कला अकादमी की अपनी उपलब्धियाँ भी हैं और इसमें कारगर बनने की क्षमता भी है ।

राजस्थान की समकालीन कला का सिलसिलेवार कोई इतिहास नहीं रखा गया है। इस दिशा में समय समय पर राजस्थान के चित्रकारों ने कला परिदृश्य पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। लेकिन आधुनिक कला के सिलसिलेवार एवं प्रमाणिक विकास को अभी लिपिबद्ध होना शेष है। राजस्थान की

विभिन्न रियासतों में राजा -महाराजाओं के आश्रय में कला का विकास हु आ । जयपुर, मेवाड़, किशनगढ़, बूंदी, कोटा जैसे अनेक केन्द्र विकसित हु ए तथा निहालचन्द, साहिबराम, चोखा जैसे सैकड़ों नाम - अनाम कलाकारों ने इसे इतिहास में स्थान दिलाया । अंग्रेजों के आगमन एवं यूरोपियन प्रभाव से राजस्थान भी अछूता नहीं रहा । यहां पर भी यथार्थवादी व्यक्तिचित्र एवं प्रकृतिचित्र आदि बनने लगे । कुन्दनलाल जैसे राजा रवि वर्मा की परम्परा के कलाकार तथा मूलर जैसे योग्य कलाकारों ने राजस्थान में यह कार्य किया । राजस्थान में आधुनिक कला के विकास में बम्बई स्कूल का भी गहरा प्रभाव है । भारत में कला की सैद्धान्तिक शिक्षा का केन्द्र बम्बई माना गया तथा वहां प्रत्येक रियासत के लिए एक स्थान सुरक्षित रखा जाने लगा । सर 1885 में अमृतलाल मिस्त्री के पुत्र कुन्दनलाल मिस्त्री को कला की नियमित शिक्षा के लिए बम्बई भेजा गया । इसके बाद इन्होंने लन्दन में स्लेड फाईन आर्ट स्कूल में अध्ययन किया । इनके चित्रों में लोकजीवन की झलक मिलती है । राजा रविवर्मा के समकालीन इस चित्रकार ने मेवाड़ में आधुनिक कला का बीजारोपण किया ।

चित्रकार पी. एन. चोयल, राजस्थान में आधुनिक कला के संचार की जड़ों की तलाश प्रक्रिया में कहते हैं कि 19वीं सदी के अन्त तक राजस्थानी कला -गौरव पूर्णत: विलुप्त हो गया था । घटिया यूरोपियन शैली से प्रत्युपनी कम्पनी शैली की भोड़ी रचनाएँ फैलती जा रही थी । सामाजिक चेतना करीब करीब खो चुकी थी । भारतीय कला की ऊँचाईयों को परखने की लोगों की दृष्टि धुंधली हो चुकी थी और कलाकार दिग्भ्रमित से भटक रहे थे । ऐसे समय शैलेन्द्र नाथ डे का देशज कला के प्रति प्रेम जागना और वॉश तकनीक का प्रसारण करना, नवीन तथा प्रेरणास्पद कार्य था । वस्तुत: वे राजस्थानी कला के पुनर्जागरण के अग्रणी कलाकार हैं । डे के शिष्य रामगोपाल विजयवर्गीय इसी परम्परा के कलाकार हैं । 'चोयल की धारणा है कि' इस दृष्टि से देखें तो राजस्थान में जागरण की शुरुआत स्वतन्त्रता से पूर्व मानी जा सकती है, पर यथार्थ यह है कि 20 वीं सदी के छठे सातवें दशक तक भी यहां कोई ऐसी कला का जन्म नहीं हो सका जिसका निश्चित स्वरूप बन पाया हो और जो समसामयिक कला पक्ष में कहीं स्थान पा सके । वास्तव में सारा भारत ही तीसरे- चौथे दशक तक कला की कोई रूपरेखा नहीं बना पाया था । अमृता शेरगिल की आवाज उसके जीवनकाल में सुनाई नहीं पड़ रही थी । यामिनीराय के ग्रामीण कला से उठाये गये प्रयोग समझ से परे थे । इनके पूर्व गगेन्द्र नाथ ठाकुर ने धनवादी चित्रों और महाकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर के अवचेतन से उपजे मौलिक स्याही अंकन में परम्परा से हटकर पश्चिम की प्रयोगशीलता से जुड़ने की प्रेरणा आती थी, परन्तु इसका प्रभाव उस समय तक गौण था । पांचवे दशक में जाकर कहीं छटपटाहट महसूस होने लगी । 'पांचवे दशक से सातवें दशक तक की कला के विकास पर प्रकाश डालते हु ए चोयल का मानना है कि सातवें दशक के अन्तिम वर्षों में स्थिति बदलने लगी । ऐसा लगा जैसे पुरानी सृजन -उर्जा पुन: प्रज्वलित होने लगी है । नाथद्वारा के युवा मोहन शर्मा सर जे. जे. स्कूल से प्रशिक्षित होकर नये काम के साथ लौटे । मोहन शर्मा का युवा अवस्था में ही देहावसान हो चुका है । इनके बारे में चोयल का कथन है 'मोहन शर्मा' पहले राजस्थानी कलाकार थे जिन्होंने चित्रतल को स्क्रेपकर (खुरचकर) छापा -प्रकाश का कछलनामयी टेक्श्चर प्रत्युत्पनी करने का प्रयोग किया और टेक्श्चर की चित्र में शक्ति तथा संवेदनात्मक प्रभाव की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया ।'

चोयल अन्वेषण को नये सृजन का अपरिहार्य अंग मानते हु ए कहते हैं कि समसामयिक कला का विकास नये प्रतिमानों की तलाश पर बहु त कुछ संभव हुआ है । आठवें दशक में कलाकारों का एक

ऐसा वर्ग आया जिसने राजस्थान की परम्परागत कला पर चिन्तन और अन्वेषण करना शुरु किया। उसके अभिव्यक्ति परक तत्वों का विश्लेषण किया सरंचना की विधियाँ समझीं और उनके माध्यम से अपनी नई शैली निर्मित करने का प्रयत्न किया। भारत में आधुनिक कला के विकास के जो कारण थे वे ही राजस्थान की पृष्ठभूमि में लागू होते हैं। यह सही है कि आधुनिक चित्रकला का जन्म भारत में नहीं हुआ तथापि भारतीय चित्रकारों द्वारा इसे अपनाये जाने का मुख्य कारण यह था कि उसका सृजनात्मक पक्ष अत्यन्त प्रबल था। आधुनिक कला न तो अपने किसी संरक्षक या प्रभु को प्रसन्न करने के लिए थी और न उसे किसी के दबाव से अपनाया जाना था। उसमें कलाकार की स्वतंत्रता प्रमुख थी। अत: भारत का चित्रकार जो सदियों से राजा -महाराजाओं, जमीदारों एवं धनी -मानी लोगों की इच्छा के अनुसार काम कर रहा था, आधुनिक कला में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की राह खुलती देखकर इस और आकर्षित हुआ। सृजन -स्वातंत्र्य के आधार पर ही भारत में आधुनिक कला को व्यापक आधार पर स्वीकृति प्राप्त हुई।

इस प्रकार राजस्थान के चित्रकारों ने भी आधुनिक चित्रकला के माध्यम से अपनी जमीन स्वयं तैयार की है। अब जयपुर में रवीन्द्र मच पर कला दीर्घा भी है। इसके अलावा कई कला -दीर्घाओं के माध्यम से राजस्थान के विभिन्न नगरों में कला के पारखियों के लिए राजस्थान के चित्रकारों की कृतियां भी उपलब्ध होने लगी है। परिदृश्य बदला है नये चित्रकारों की सम्भावनाओं से पूर्ण एक और पीढ़ी ने अंगड़ाई ली है और आधुनिक कला के विकास का एक लम्बा दौर यों उज्जवल इकाई और चटख रंगों भरे भविष्य का संकेत देता है। राजस्थान की युवा पीढ़ी में कला सर्जन की भूख है। अब जवाहरकला केन्द्र भी इस दिशा में अपनी महती भूमिका का निर्वाह कर रहा है अन्त में क्या चित्रकला बल्कि सभी कलाओं के संदर्भ में गोपाल घोष की यह पंक्तियाँ समसामयिक हैं : -

"कला भावुकता भरी परियों की या
व्यतीत जीवन की कथा नहीं है।
यह तो एक मनन की वस्तु है।
इसमें होता है - एक भोगा हुआ
संसार जिसे अपनी ही भाषा में
जब तक नहीं कहा जाये
कला की सीमा में वह नहीं आता।"

20.07 इकाई सारांश -

पारम्परिक लघुचित्रण का अग्रणी कला केन्द्र राजस्थान अपनी विविध शैलियों, उप-शैलियों एवं उसमें प्रयुक्त कलात्मक गुणों से विश्वकला में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। देश की स्वतन्त्रता के साथ चित्रकला में भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का सूत्रपात होता है। राजस्थान में कला के नवीन मार्ग को प्रशस्त करने में महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट्स (राजस्थान स्कूल ऑफ आर्ट) हो गया, का प्रमुख योगदान रहा। प्रारम्भ में आधुनिक कला पर बंगाली एवं तदुपरान्त बम्बई (मुंबई) का प्रभाव छाया रहा। शनै: शनै: राजस्थान की परम्परागत कला की खोज की गयी उसे आधुनिक कला के छत्र में ढाला गया। शुद्ध भारतीय पारम्परिक चित्रण में श्री कृपालसिंह शेखावत ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1957 ई. में राज्य अकादमी की स्थापना के पश्चात् प्रदर्शनियों लगने लगी व कला का स्व नवीन वातावरण बनने लगा। राज्य की कला में राष्ट्रीय रख अन्तर्राष्ट्रीय कला का प्रभाव बढ़ने लगा।

सरकारीकरण की सीमितताओं के बाद भी युवा पीढ़ी की सृजन की भूख अब बदलती जा रही है जो आधुनिक कला के लिए शुभ संकेत है ।

20.08 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये ।

1. महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्टस् का आधुनिक चित्रकला के विकास में किस प्रकार का योगदान है ।
2. इस समय कौन -कौन सी संस्थाएँ आधुनिक चित्रकला को प्रोत्साहित कर रही है ।
3. किन चित्रकारों ने पुन: राजस्थान की परम्परागत शैलियों को विकसित करने का यत्न किया।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये : -

1. आधुनिक कला के उद्भव की किस प्रकार की पृष्ठभूमि रही है ।
2. आधुनिक कला के पोषण के तत्वों पर समीक्षा कीजिए ।
3. आधुनिक राजस्थान की चित्रकला पर पड़े बाह्य प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए ।

इकाई सं. 21 "संग्रहालय एवं जन्तुशालाएँ

इकाई संरचना

21.01 उद्देश्य
21.02 प्रस्तावना
21.03 संग्रहालयों के कक्ष
21.03.1 एतिहासिक कक्ष
21.04 राजस्थान के चर्चित संग्रहालय एवं गैलरी
21.05 जन्तुआलय
21.06 इकाई सारांश

21.01 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का तात्पर्य है कि : -

(1) अतीत की सामग्रियों का अपना एक ऐतिहासिक पक्ष है एवं वह दर्शनीय है ।
(2) संग्रहालयों की स्थापना से हम दुर्लभ सामग्रियों की सुरक्षा कर सकते हैं एवं आज की पीढ़ियों से उनका परिचय करा सकते हैं ।
(3) संग्रहालयों की अपनी एक वर्गीकृत व्यवस्था है जो दर्शकों की विशिष्ट रुचि में भी वृद्धि करती है।
(4) ऐतिहासिक धरोहरों को संरक्षित करने का संग्रहालय स्व उचित माध्यम है ।
(5) जन्तुआलयों का भी अपना एक परिचय है ।

21.02 प्रस्तावना

'म्यूजियम', 'संग्रहालय', जिन्हें अन्य शब्दों में अजायबघर भी कहा जाता है । इससे अभिप्राय उस स्थान से है जहां कुछ अजीब (विचित्र) सी वस्तुओं का अथवा प्राचीन सामग्री का संग्रह कर दर्शनीय बनाने के लिये रखा गया हो । इस सामग्री में मूर्तियाँ, सिक्के, मिट्टी के बर्तन, शिलालेख, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, परिधान, चित्र, ताम्रपत्र, काष्ठकला की सामग्री, पट्टे-परवाने, हस्तकला की सामग्री, मीनाकारी की वस्तुएं, पालकियां, पींजस, महाडोल एवं शिकार किये गए जीव जन्तुओं को रसायनिक विधि से उपचारित कर प्रदर्शनार्थ रखे हु ए हैं । इस प्रकार की सामग्री से तात्कालिक परिवेश तथा राजसी नरेशों के जीवन चरित्रों एवं उनकी शासन व्यवस्था, राजनैतिक व सामाजिक तथा आर्थिक जीवन का चित्रण करती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि म्यूजियम या संग्रहालय हमारे गौरवमयी अतीत का घर है और हमारे पूर्वजों की उपलब्धियों का जीता-जागता स्थल है ।

21.03 संग्रहालयों के कक्ष

राजस्थान के संग्रहालयों में प्राचीन सामग्री को कालक्रम एवं स्थान विशेष के आधार पर वर्गीकृत कर कला दीर्घाओ में संग्रहालय विज्ञान के अनुरूप सुन्दरता से प्रदर्शित किया गया है । इस हेतु कला

दीर्घाओं के अनेक कक्षों को इन संग्रहालयों में देखा, जा सकता है । महत्वपूर्ण कक्षों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है ।

21.03.1 ऐतिहासिक कक्ष

(अ) अस्त्र-शस्त्र कक्ष : ऐतिहासिक कक्ष के कई उपकक्ष हैं । होना भी स्वाभाविक है क्योंकि ऐतिहासिक वस्तुएं विविध हैं एवं कालक्रम के विशाल चक्र में बंटी हुई हैं । उनमें कुछ का विवरण इस प्रकार है ।

इस कक्ष में अस्त्र-शस्त्र तथा युद्धों से सम्बन्धित सामग्री का प्रदर्शन होता है । अस्त्र-शस्त्र में कटारें, छुरियां, तलवारें, ढालें, भाले, धनुष, तीरों को तथा नरेशों के युद्ध परिधानों को दर्शाया गया है। जयपुर के रामबाग स्थित म्यूजिम, मेहरानगढ़ (जोधपुर) एवं बीकानेर म्यूजियम में अस्त्रों एवं परिधानों को देखा जा सकता है । इन संग्रहों में मुगल बादशाहों द्वारा राजपूत शासकों को जो अस्त्र रख निशान भेंट किये गये वे बहुत दर्शनीय हैं । इसमें 'माही मिरातिब उल्लेखनीय है इसके अतिरिक्त नगाड़ा, ढोल व अन्य बाद्ययन्त्र जो युद्ध के समय बजाये जाते थे, देखने लायक हैं । वैरीशाल का नगाड़ा, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । कहते हैं कि एक समय में सिरोही की कटारें प्रसिद्ध थीं, वे अब इन्हीं संग्रहालयों देखी जा सकती हैं । इसके अतिरिक्त बारूद, बन्दूकों व अन्य प्रकार की गनों एवं तोपों का इतिहास जानना हो तो ये संग्रहालय जीता -जागता इतिहास है ।

(आ) शिलालेख पट्ट कक्ष: -अन्य उपकक्षों में शिलालेखो एवं पट्ट का स्थान है ये शिलालेख ऐतिहासिक सामग्री तोहै ही लेकिन इन्हें देखकर यह परिचय मिल जाता है कि प्राचीन काल में किस प्रकार शासक व अन्य गण अपनी उपलब्धियों एवं आस्थाओं का विवरण स्थायी रूप से छोड़ने के लिये शिलाओं पर आलेख खुदवाते थे । इन शिलालेखों में वंशावलियाँ हैं, मंदिरों के निर्माण का विवरण है, सतियों होने की घटनाओं का उल्लेख है, व्यक्तियों की विशिष्ट उपलब्धियों का लेखा -जोखा है आदि, आदि । इस प्रकार शिलाओं पर अंकित अक्षर हमारा गौरवमयी अतीत है । शिलालेखों की दृष्टि से राजपूताना म्यूजियम अजमेर उल्लेखनीय है जिसमें प्राचीन राजवंशों विशेषकर चौहान राजवंश पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

(इ) पुरातत्त्व कक्ष : - वैसे तो ऊपर जिन बातों का विवरण दिया गया है वे सभी पुरातत्व कक्ष में सम्मिलित हो सकते हैं लेकिन यहां उस सामग्री पर बल दिया गया है जो प्रागैतिहासिक है, पाषाण लघु उपकरण, मृदपात्र खण्ड, मृण्य मूर्तियों, टैराकोटाजू दर्शित किये गये हैं जो तत्कालीन मानव सभ्यताओं के विकास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं । राजस्थान संभाग की प्राचीनतम सभ्यताओं जो हड़प्पा कालीन है, अहाड़ व कालीबंगा के संग्रहालयों में देखी जा सकती है । इसके अलावा उदयपुर व बीकानेर का संग्रहालय इस दृष्टि से बहुत समृद्ध है आदि मानव के भोजन संग्रह की स्थितियों का चित्रण कोटा के राजकीय संग्रहालय में देखा जा सकता है ।

(ई) प्रतिमा कक्ष : - यद्यपि हमने इस विषय को एक अन्य इकाई में वर्णित किया है फिर भी संग्रहालयों की दृष्टिसे जोधपुर व कोटा के संग्रहालय अद्वितीय हैं । इनमें शैव, वैष्णव, गणेश, मातृकाएँ, दिग्पाल, भैरव, विभिन्न अवतारोंआदि को दर्शाने वाली उल्लेखनीय एवं मोहक प्रतिमाएँ हैं । जैन प्रतिमाओं की संख्या भी प्रचुर मात्रा में हैं । उदयपुर राजकीय संग्रहालय की प्रतिमा गैलेरी भी दर्शनीय है । ब्रिटिश काल के शासकों की मूर्तियाँ भी इन संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं ।

(उ) मुद्राकक्ष : - राजस्थान के सभी मुख्य संग्रहालयों में यह कक्ष स्थित है । 2000 हजार वर्ष पूर्व प्रचलित पंच आहत मुद्राएं, शक-कुषाण व अन्य समकालीन मुद्राएँ, मुगलकालीन सिक्के व देशी नरेशों द्वारा चलायी गयी मुद्राएँ प्रमुखता से इन कक्षों में देखी जा सकती हैं । इन संग्रहों में यौद्धेय व मालव कालीन मुद्राएँ भी उपलब्ध हैं । यवन सिक्कों की तो कमी नहीं है । राजस्थान प्रारम्भ से ही प्रसिद्ध व्यापारिक मार्गों का क्षेत्र रहा है । इस कारण यहां प्रचुर मात्रा में मुद्राओं का मिलना स्वाभाविक है ।

(ऊ) परिधान कक्ष - म्यूजियम देखने वालों के मन में यह एक स्वाभाविक उत्सुकता रहती है कि प्राचीन काल में शासक किस प्रकार के परिधान पहना करते थे । उनकी इन उत्कंठाओं का समाधान लगभग सभी संग्रहालयों में रखे प्राचीन परिधानों को देखने से हो जाता है । इन कक्षों में शासकों के जरीदार मखमली चोगे, अंगरखे, मलीनों के अचकन, सुरमई पशमीना, केसरिया बागान आदि देखने को मिल जाते हैं । यहां यह सूचना जोड़ना भी समीचीन होगा कि अमेरिका के फिलाडेल्फिया म्यूजियम ऑफ आर्ट में एक सुन्दर विछायत है जो सम्भवत: पश्चिमी भारत में तैयार हुआ होगा । वाशिंगटन डी. सी. के टैक्सटाइल संग्रहालय में परदे का 'अबरा' अर्थात् दिखने वाला भाग संग्रहित है । इस पाठ्यक्रम की अन्य इकाई में वस्त्रों के ऊपर विस्तृत विवरण दिया गया है । आजकल संग्रहालयों मे साफा, पगड़ी आदि का खूब प्रचलन हो गया है ।

(ए) चित्रकक्ष : - लगभग सभी संग्रहालयों में यह कक्ष स्थित है बल्कि इससे संग्रहालयों की समृद्धता बढ़ती है । **जै**से कोटा के राजकीय संग्रहालय का उदाहरण लें इसमें विश्व प्रसिद्ध कोटा शैली के लघुचित्र जिनके विविध विषय हैं जैसे कृष्ण लीलाएं, शिकार, उत्सवों की सवारियों के चित्र आदि मुख्य हैं । इसी प्रकार अलवर के संग्रहालय में मुगल बादशाहों एवं इनकी रानियों के दुर्लभ चित्र देखे जा सकते हैं । बल्कि अलवर का संग्रहालय ऐसे चित्रों का एक विशाल संग्रह है । बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में जर्मन चित्रकार मूलर द्वारा चित्रित बीकानेर इतिहास से सम्बन्धित चित्र अनेक कक्षों की शोभा बढ़ाते हैं । इसी चित्रकार के कुछ चित्र जोधपुर में भी देखे जा सकते हैं । दूसरे शब्दों मे चित्र कक्ष सभी संग्रहालयों की शोभा है ।

(ऐ) हस्तलिखित ग्रन्थ : - संग्रहालयों की यह एक अन्य अद्वितीय सामग्री है । वैसे यह सामग्री पांडुलिपियों की के सूरत में मूलतः उपलब्ध होती है । लेकिन इसके आकर्षण के अन्य आधार भी हैं । जैसे पत्तों, लकड़ी, शीशा, कई प्रकार के धातुओं बल्कि अनाज जैसे गेहूँ चावल आदि पर लिखे या खुदे ग्रन्थ विशेषकर धार्मिक ग्रंथ देखने में आते हैं कौतुक जगाते हैं । उदाहरणार्थ, कोटा संग्रहालय में एक पत्र पर लिखी हुई सूक्ष्माक्षरी गीता, भागवत विष्णु सहस्रनाम, सचित्र भागवत र्स्वणाक्षरी शत्रु -शलय स्रोत, श्वेताक्षरी और कतरवां अक्षरी ग्रन्थ, नक्काशी युक्त स्वर्ण अक्षरों में कुरान, सचित्र कल्प सूत्र, चित्रकला जिसमें अनेक तांत्रिक चित्र हैं तथा वल्लभोत्सव चंद्रिका जो ग्रन्थ अराध्य देव ब्रजनाथ जी की नित पूजा सेवा विधान ओर छवि बनाने की विधि विधान को दर्शाता है, आकर्षण है । अलवर संग्रहालय में चित्रों से सज्जित अनेक अरबी व फारसी भाषा के ग्रन्थ हैं, जिसमें बाबर की आत्मकथा सबसे प्राचीन है । शेख सादी का गुलिस्ताँ भी यहां उपलब्ध है उसमें दस रंगीन चित्र भी लगे हुए हैं । इसी प्रकार कुरान, भागवत गीता, महाभारत, दुर्गा सप्तशती के दुर्लभ ग्रन्थों की प्रतियां भी देखने में आती हैं । इन ग्रन्थों के किनारे सुनहरी व सजावट भरे हैं । इस प्रकार इन ग्रन्थों की लम्बी सूचियाँ हैं व लगभग सभी संग्रहालयों में देखने को मिलती हैं ।

इन कक्षों के अतिरिक्त हॉल व गैलेरियाँ भी हैं जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :-

(ओ) दरबार हॉल - वे संग्रहालय जो ऐतिहासिक भवनों एवं किलो में स्थित है, वहां का आकर्षण पुराने समय के दरबार हॉल है जहां प्राचीन शासक अपने सामन्तों एवं अधिकारियों एवं कर्मचारियों के साथ मिलकर सत्ता का उपयोग करते थे व प्रशासनिक नीतियों को सम्पन्न करते थे । इन दरबारों में सामन्तों एवं अधिकारियों के बैठने व खड़े होने की एक स्थिति हुआ करती थी जो उनके पद व स्थिति के भेद को स्पष्ट करती थी । दरबाल हाल खम्भों पर अपनी छतें जो कलात्मक होती हैं तथा झाड़ू -फानूस से आभा देती हैं, अपनी कालीनों की सजावट व शासक के तख्त या राजसिंहासन के वैभव से दर्शनीय होती हैं । कई संग्रहालयों के दरबार हाल में प्राचीन वस्तुएँ भी दिखाने को रखी जाती हैं । दरबार हाल देखने के बाद प्रत्येक को पुराने राजसी ठाटबाट व सामन्ती व्यवस्था की पहचान हो जाती हैं ।

(औ) गैलेरी: - वैसे तो चित्रों की गैलेरिया प्रसिद्ध होती हैं जिसका विवरण आपको इस पाठ्यक्रम की अनेक इकाइयों में जगह-जगह पर देखने में आया होगा । यहां उन गैलेरियों की चर्चा है जो वन्य प्राणी कक्ष भी कहलाते हैं । इन कक्षों या गैलेरियों में वन्य जीव-जन्तुओं की खालों का लटकाकर प्रदर्शन किया जाता है । कुछ मृत जानवरों में मसाला भरकर उन्हें उनकी स्वाभाविक मुद्राओं में खड़ा करके प्रदर्शित किया जाता है । राजस्थान, गुजरात व मध्य भारत के प्राचीन रजवाड़ों के संग्रहालयों में यह दृश्य देखने को मिलता है । बीकानेर में लालगढ़ के अन्दर स्व गैलेरी इसी विशेषता को लेकर दर्शायी गयी है । कोटा के माधोसिंह संग्रहालय में भी इनको देखा जा सकता है । अब हम संक्षेप में राजस्थान में स्थित कुछ उल्लेखनीय संग्रहालयों, गैलेरियों व जन्तुआलयों का विवरण प्रस्तुत करते हैं ।

21.04 राजस्थान के चर्चित संग्रहालय एवं गैलेरी

आवश्यक नहीं है कि इसमें सभी केन्द्रों का विवरण आवश्यक जानकारी के साथ आ गया हो पर जानकारी के लिये विवरण इस प्रकार है -

(1) **सरदार म्यूजियम, जोधपुर** : - यह जोधपुर के सार्वजनिक उद्यान में सरदार म्यूजियम के नाम से प्रसिद्ध है । 1909 में इसे स्थापित किया गया था । इसमें अनेक प्रतिमाएं, सिक्के, लघु चित्र रख कला कौशल की वस्तुओं का संग्रह है । स्वतन्त्रता के पश्चात् मारवाड़ क्षेत्रिय म्यूजियम के रूप में प्रसिद्ध यह संग्रहालय राज्याधीन हो गया । इस क्षेत्र की कला संस्कृति को समझने हेतु पर्यटक इसे देखने आते हैं ।

(2) **मेहरानगढ़ म्यूजियम फोर्ट, जोधपुर** : - जोधपुर के राजपरिवार की कलात्मक वस्तुओं, प्राचीन अस्त्र -शस्त्रों, पालकियों, तम्बूओं, राजसी पोशाकों, झूलों, शाही डेरों एवं चित्रों आदि का संग्रह इस म्यूजियम में व्यवस्थित ढंग से प्रदर्शित हैं । इतिहास प्रेमी व पर्यटक जो जोधपुर किले को देखने आते हैं, वे इस म्यूजियम को देखकर यहां की कला संस्कृति से प्रभावित होते है ।

(3) **उम्मेद भवन म्यूजियम हॉल एवं आर्ट गैलेरी जोधपुर** : - राजतन्त्र की विशिष्ट एवं कीमती वस्तुओं का संग्रह यहां देखा जा सकता है । प्राचीन फर्नीचर, अस्त्र-शस्त्र, विभिन्न प्रकार की घड़ियाँ, राजा महाराजाओं के चित्र एवं एक बड़े हॉल में मारवाड़ शैली के विभिन्न प्रकार के नयनाभिराम चित्रों का प्रदर्शन बड़ी सुन्दरता से किया हुआ है ।

(4) **राजकीय संग्रहालय मंडोर, जोधपुर**, - मारवाड़ के इतिहास से सम्बन्धित प्रतिमाएं, मुद्राएं

एवं इतिहास के दिग्दर्शन कराते मारवाड़ नरेशों के चित्र इस म्यूजियम में हैं । 1968 से संग्रहालय जोधपुर के मण्डोर नामक ऐतिहासिक स्थल पर दर्शकों के अवलोकनार्थ खुला हुआ है ।

(5) **एल्बर्ट हॉल म्यूजियम, जयपुर.** - 1886 ई. में राजकीय केन्द्रीय म्यूजियम के रूप में यह स्थापित हु आ जिसमें मुख्यत: कला एवं औद्योगिक वस्तुओं का संग्रह हु आ । एवं इस संग्रहालय में यूनानी शैली की अनेक कलाकृतियाँ एवं हिन्दू रोमन भित्ति चित्रों के साथ-साथ जापान, चीन, सीरिया के भी प्रख्यात तैल चित्रों का संग्रह है ' यहाँ विश्वप्रसिद्ध सुन्दर गलीचा रख नक्काशीदार पीतल ' सुन्दर' ढालें भी संगृहीत हैं ।

(6) **राजकीय संग्रहालय हवामहल, जयपुर** : - इस संग्रहालय में ढूँढाड़ क्षेत्र की अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ, शिलालेख एवं प्राचीन सिक्कों का संग्रह है । 1983 में इस संग्रहालय को बनाया गया था

(7) **प्राच्यविद्या संग्रहालय, गंगवाल पार्क, जयपुर**. - यहां प्रतिमाएँ, सिक्के एवं हस्तलिखित ग्रन्थों को संगृहीत किया गया है ।

(8) **सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय, जयपुर** : - यहां ईरानी एवं भारतीय कला के सुन्दर कालीन, पोशाकें, अस्त्र- शस्त्र एवं लघुचित्र तथा अन्य चित्रों का संग्रह है ।

(9) **राजकीय संग्रहालय दलाराम बाग, आमेर जयपुर** : - यहां प्राचीन प्रतिमाएँ, आहड़ संस्कृति की उत्खनन से प्राप्त मृदपात्र व मूर्तियां हैं ।

(10) **राजकीय कला दीर्घा, जलेब चौक, आमेर** : - बैराठ, सांभर एवं नगर आदि सभ्यताओं की पुरा सामग्री विभिन्न स्थानों से एकत्रित, 1994 में दलाराम बाग आमेर में स्थानान्तरित की गई। पूर्व में यह विद्याधर का बाग पुराना घाट में था । इसमें आमेर का ऐतिहासिक परिदृश्य भी बखूबी दर्शाया गया है ।

(11) **स्टेट गैलरी ऑफ मॉर्डन आर्ट, जयपुर** - वर्तमान में इसे ललित कला अकादमी जयपुर में स्थानान्तरित किया गया है । 1977 में इसे स्थापित कर आधुनिक कलाकारों के कलात्मक पेन्टिंग्स (स्कलपचरस् से सजाया गया है ।

(12) **डॉल म्यूजियम, जयपुर**. - जयपुर में पुलिस मेमोरियल के पास गूंगे एवं बहरे बच्चों द्वारा बनाई गई अनेक देशों की डॉलस् (गुड़िया) को यहां प्रदर्शित किया गया है ।

(13) **राजकीय संग्रहालय विराट नगर** - 1987 में स्थापित इस संग्रहालय में यहां सर्वेक्षण एवं उत्खनन से प्राप्त इस क्षेत्र की सामग्री को संजोया गया है, जिसमें पाषाण काल के पत्थर के औजार, मृदभाण्ड एवं सिक्के प्रमुख रूप से हैं । राजस्थान में व्याप्त बौद्धकालीन संस्कृति के दर्शन यहां होते हैं ।

(14) **राजकीय संग्रहालय, भरतपुर** : - भरतपुर राज्य के महाराजा की अनेकानेक वस्तुओं का संग्रह दृष्टव्य होता है । सैन्य सामग्री के विभाग में अनेक बन्दूकें-कारतूस, तीरकमान हैं । संग्रहालय की कलादीर्घा में अनेक कलात्मक वस्तुएं फूलदान, पंखे, सन्दूक एवं बर्तन हैं । चित्रदीर्घा में 17वीं शताब्दी के मुगल स्कूल के चित्र एवं अन्य सुन्दर चित्रों का संग्रह हैं ।

जीव जन्तु दीर्घा में मगरमच्छ के जीवाश्म, शेर के मुखौटे, अफ्रीकन बन्दर एवं अनेक पक्षियों की प्रजातियों का संग्रह है । यह संग्रहालय 1944 ई. से लोहागढ़ किले के परकोटे के अन्दर स्थित है।

(15) **राजकीय संग्रहालय, अलवर** : - यह संग्रहालय महल चौक अलवर में अवस्थित है।

1940 में इसे म्यूजियम का रूप दिया गया था । यहां अस्त्र-शस्त्र, दुर्लभ पाण्डुलिपियों एवं सूक्ष्म चित्रकारी के श्रेष्ठ चित्रों का संग्रह है । स्वतन्त्रता पश्चात् यह राजकीय क्षेत्रिय म्यूजियम के रूप में संचालित हुआ । चित्र, हस्तलिखित ग्रन्थ, प्रतिमाएं एवं अस्त्र-शस्त्र यहां की मुख्य विषय वस्तु हैं ।

(16) **राजकीय संग्रहालय बीकानेर** - गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम बीकानेर के नाम से भी यह जाना जाता है । यह 1937 में बीकानेर महाराजा की गंगासिंह की गोल्डन जुबली (1887 1943 ई.) मनाने के अवसर पर स्थापित किया था तथा अस्त्र-शस्त्र एवं ए.एच. मूलर के चित्रों को यहां सुरक्षित किया गया है ।

(17) **जूनागढ़ एवं लालगढ़ संग्रहालय** : - यह संग्रहालय निजी तौर पर कार्यशील है जिनमें बीकानेर नरेशों के अनेक उपयोगी प्राचीन वस्तुओं का संग्रह है जिसमें दैनिक उपभोग से लेकर अस्त्र-शस्त्र, संस्कृत हिन्दी कीं दुर्लभ पाण्डुलिपियों का भी संग्रह है ।

(18) **राजकीय संग्रहालय कोटा** : - राजकीय संग्रहालय कोटा में हाड़ौती संभाग की कला संस्कृति को विभिन्न रूपों के में दर्शाया गया है यहां की प्राचीन मूर्तियां, मृदभाण्ड अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र, शिल्पखण्ड एवं पाषाण औजार तथा हाड़ौती शैली के विभिन्न चित्रों तथा हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है । यह संग्रहालय वर्तमान में बृज भवन पैलेस में स्थित है ।

(19) **महाराव माधोसिंह म्यूजियम** : - यह कोटा के नरेशों की निजी सम्पत्ति के रूप में संरक्षित है । गढ़ पैलेस (राजमहल) कोटा में अनेक भित्ति चित्रों, राजपूत शैली की बहुत-सी पेन्टिंग्स, शिकार किए अनेक जीव जन्तुओं तथा विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों का संग्रह कर इसे म्यूजियम का रूप दिया गया है । वैधशाला एवं तन्त्र मन्त्र से सम्बन्धित यंत्र के बहुत से उपकरण भी यहां संगृहीत हैं ।

(20) **बड़े देवता जी की हवेली** : - कोटा में गढ़ पैलेस के समीप ही यहां के नरेशों के राजपण्डित रहे ब्राह्मण परिवार की हवेली बड़े देवता जी की हवेली के नाम से प्रसिद्ध है । यहां भित्ति चित्रकला के अद्भुत नमूने जो हाड़ौती शैली में है, देखने को मिलते हैं । अनेक प्राचीन वस्तुओं का संग्रह भी यहां किया गया है ।

(21) **राजकीय संग्रहालय झालावाड़** : - झालावाड़ के इस संग्रहालय को 1915 ई. में बनाया गया । इसमें चित्रकला, शिल्पकला, भित्ति चित्र कलाओं तथा पुरानी मूर्तियों, सिक्के एवं लघु चित्रों का दुर्लभ संग्रह है ।

(22) **चित्रशाला बून्दी** : - बून्दी किले के नरेशों द्वारा बनवाई गई चित्रशाला जिसके सुन्दर भित्ति चित्र दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र हैं ।

(23) **राजकीय संग्रहालय चित्तौड़गढ़** : - 1969 में यह संग्रहालय राज्य सरकार की ओर से बनाया गया, जिसमें अनेक सिक्के, प्रतिमाएं तथा स्थानीय कला को दर्शाती अनेक कलात्मक वस्तुओं का यहां संग्रहण है ।

(24) **राजपूताना म्यूजियम अजमेर** : - यह संग्रहालय ई. 1908 में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत संचालित हुआ था । पुरातत्व की सामग्री यहां संगृहीत है जिनमें प्रस्तर प्रतिमाएं, सिक्के एवं अभिलेख यहां की प्रमुख विषय वस्तु है । इतिहासज्ञों के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण शोधस्थल है । शिलालेखों का संग्रह यहां सराहनीय है ।

(25) **विक्टोरिया म्यूजियम हॉल, उदयपुर** - 1890 ई. में बने इस आर्कियोलोजिकल

म्यूजियम में प्रतिमाएं, सिक्के, अस्त्र-शस्त्र, लघुचित्र एवं अभिलेखों का संग्रह है, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् यह मेवाड़ के क्षेत्रिय म्यूजियम के रूप में विकसित हुआ ।

(26) **राजकीय संग्रहालय आहड़, उदयपुर** - आहड़ सभ्यता से खुदाई में मिली पुरा वस्तुओं का संग्रह कर इस संग्रहालय को विकसित किया गया है, जहां महत्वपूर्ण अभिलेख एवं शिलालेख है। 1961 में इसे स्थापित किया गया ।

(27) **सिटी पैलेस संग्रहालय, उदयपुर** : - उदयपुर राजपरिवार का यह निजी संग्रहालय है, जिसमें महाराणाओं के चित्र, अस्त्र-शस्त्र, कलात्मक वस्तुएँ एवं उदयपुर शैली के विभिन्न लघुचित्र, प्रतिमाएं, सिक्के तथा अभिलेखों का संग्रह प्रदर्शित

(28) **लोककला मण्डल संग्रहालय, उदयपुर** : - राजस्थान की लोककलाओं को दर्शाती विभिन्न वस्तुओं का संग्रह इस संग्रहालय में किया गया है, कठपुतलियों का एवं राजस्थान में स्त्री-पुरुषों के वस्त्र, आभूषणों का विशिष्ट संग्रह इस संग्रहालय की विशेषता है ।

(29) **राजकीय संग्रहालय एवं आर्ट गैलेरी, माउन्ट आबू :** - सिरोही क्षेत्र की प्रतिमाएं, सिक्के एवं कला सामग्री को यहां दर्शाया गया है । 1965 से यह संग्रहालय संस्थापित है ।

(30) **राजकीय संग्रहालय, डूंगरपुर** - यहां संग्रहालय विज्ञान की अनेक वस्तुओं प्रतिमाओं आदि को दर्शाया गया है 1959 में इस संग्रहालय को डूंगरपुर की पुरा वैभव वस्तुओं से सजाया गया।

(31) **श्री बागड़ आर्कियोलोजीकल एवं साइन्टिफिक म्यूजियम, पाली** : -इस संग्रहालय में मारवाड़ क्षेत्र की प्रतिमाओं, सिक्के, लघुचित्र, लकड़ी की एवं अन्य धातुओं की कलात्मक वस्तुओं का संग्रह है ।

(32) **राजकीय संग्रहालय, जैसलमेर** : - मरूक्षेत्र की क्षेत्रीय संस्कृति को दिग्दर्शित करती यहां की कला के विभिन्न कलात्मक नमूनों को इस संग्रहालय ने संजोया है । 1984 में इसे स्थापित किया गया । थार रेगिस्तान की ऐतिहासिकता को सिक्कों, प्रतिमाओं एवं अभिलेखों से भी दर्शाया गया है ।

(33) **बिड़ला संग्रहालय, पिलानी** - ज्ञान विज्ञान की अनेक वस्तुओं का सुन्दर संग्रह बिड़ला संग्रहालय में किया गया है ।

(34) **शेखावाटी परिक्षेत्र** : - समूचे शेखावाटी परिक्षेत्र में महेनसर, मलसीसर, मण्डावा, फतेहपुर, मुकुन्दगढ़, नवलगढ़, सूरजगढ़, रघुनाथगढ़ आदि में निजी हवेलियां हैं जिनमें की गई चित्रकारी दर्शनीय है ।

चिड़ावा की डालमियाओं, कांकीरयाओं की श्रेष्ठ हवेलियां, भित्ति चित्रों के लिए प्रसिद्ध है ।

फतेहपुर में सिंघानिया और देवडाओं की विशाल हवेलियों के साथ, झालाओं की हवेलियों व इनमें की गई । चित्रकारी दर्शनीय है । काजड़ा में कजरिया परिवार की हवेलियाँ अपने भित्ति चित्रों के सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं ।

राजस्थान में अवस्थित म्यूजियम एवं आर्ट गैलरियां यहां की सभ्यता एवं संस्कृति, कला, सामाजिक परम्पराओं एवं आचार -विचारों को दर्शाने का सशक्त माध्यम है ।

21.05 जन्तुआलय

मरुभूमि का चित्र प्रस्तुत करता हुआ राजस्थान अपने आवरण में प्रकृति का सन्तुलन एवं गौरव समेटे हुए है, जल, थल एवं वनों की अनूठी सम्पदा को अपने में समाहित किए राजस्थान की भूमि वन्य जीवों को विचरण हेतु प्रोत्साहित करती है । यहां जरख, तेन्दुआ, बाघ, लोमड़ी, जंगली बिल्ली, बिन्जु , केराफल, सालर, नेवला, सूअर, लंगूर, बन्दर, देशी भालू सेहली, खरगोश आदि वन्य जीव प्रमुखता से पाये जाते हैं । रेंगने वालों में अजगर, मगर, काला नाग, गिरगिट, कछुआ, घड़ियाल, पाटागोह आदि प्रमुख हैं ।

राजस्थान के 9 प्रतिशत भाग प्रदेश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का वन क्षेत्र है जो कि वन्य जीवों के स्वाभाविक स्वच्छन्द, विचरण, प्रजनन हेतु प्रतिकूल है । राज्य में प्राकृतिक वन का क्षेत्रफल 31, 500 वर्ग कि. मी. है ।

वन्य जीवों के प्राकृतिक आश्रय स्थलों को अभयारण्य एवं आखेट निषिद्ध क्षेत्रों में परिवर्तित कर अनेक स्थलों को परियोजना बनाकर सुरक्षित किया गया है, जिसमें रणथम्भौर राष्ट्रीय उद्यान सवाई माधोपुर, सरिस्का अभयारण्य अलवर, दर्रा अभयारण्य कोटा, जमवा रामगढ़, जयपुर, कैलादेवी अभयारण्य करौली प्रमुख हैं । इनकी विस्तृत जानकारी हम एक अलग इकाई में पाठकों को दे चुके हैं ।

स्वतन्त्रता पूर्व राजस्थान की कई रियासतों के अपने जन्तुआलय थे । वर्तमान में प्रमुख शहरों में पांच जन्तुआलय ही शेष हैं, जिनका जानकारी के लिये संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है:-

(1) **जोधपुर जन्तुआलय** - यह जोधपुर शहर में हाईकोर्ट रोड़ पर स्थित है । यहां अनेकानेक जंगली पशु, रेंगने वाले जीव, जल के जीव एवं विभिन्न प्रकार के जल, थल के पक्षियों से सुज्जित है इसमें 23 प्रकार की पक्षी प्रजातियां देखी जा सकती हैं । इसकी स्थापना 1936 में हुई थी । यह गोडावण के कृत्रिम प्रजनन केन्द्र के रूप में विख्यात है ।

(2) **जयपुर जन्तुआलय** - यह जन्तुआलय रामनिवास बाग में है तथा सन् 1876 में जयपुर रियासत द्वारा इसकी स्थापना की गई थी । वन्य पशुओं की 42 प्रजातियाँ यहां उपलब्ध हैं प्रमुख रूप से बाघ, बघेरा, सिंह, हिरण, भालू भेड़िया आदि हैं । पक्षियों की 75 प्रजातियों का यहां संरक्षण है ।

(3) **बीकानेर जन्तुआलय** -जीव जन्तुओं की सुरक्षार्थ एवं मनोरंजनार्थ 1922 में इसे स्थापित किया गया । वर्तमान में 8 वन्य पशु प्रजातियां, 22 पक्षी एवं 12 विभिन्न प्रकार के जीव जन्तुओं का यहां संरक्षण है । समीप में ही ऊंट प्रजनन केन्द्र भी स्थापित है ।

(4) **उदयपुर जन्तुआलय**. - यह जन्तुआलय सन् 1887 में स्थापित किया गया था । जहां 25 से अधिक पक्षी प्रजातियों तथा 13 किस्म के वन्य पशु, संरक्षण प्राप्त कर रहे हैं ।

(5) **कोटा जन्तुआलय**. - इस जन्तुआलय की स्थापना सन् 1954 में की गई थी । इसमें 17 प्रकार के प्रजातियों के पक्षी, 14 प्रकार के वन्य पशु तथा 3 प्रजातियों के रेंगने वाले जीव संरक्षित हैं । कोटा में चम्बल नदी के अन्दर घड़ियाल अभयारण्य भी स्थापित है ।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन्तुआलय का महत्व विलुप्त हो रही पशु पक्षियों की प्रजातियों को संरक्षित करने के उद्देश्य की पूर्ति को दृष्टिगत रखते हुए अति आवश्यक है ।

21.06 इकाई सारांश

इस प्रकार पाठकों ने इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह पाया कि किस प्रकार अतीत की सामग्री का अपना एक आकर्षण है । विशेषकर उन दुर्लभ सामग्रियों को अगर व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया जाये । आधुनिक काल में इस को संग्रहालय बनाकर सम्पादित किया गया है । चूंकि वस्तुएं अनेक प्रकार की है, इस कारण संग्रहालय में विभिन्न कक्षों की स्थापना हुई है । ऐतिहासिक कक्ष पुन: कई उपखण्डों में विभाजित है । मानव प्रयासों की विलक्षण रम्य उत्कृष्ट कृतियों को चाहे वह धातु में हो, पत्थर में हो या कपड़े अथवा कागज पर उन्हें इन संग्रहालयों में देखा जा सकता । उसी श्रेणी में चित्रों के प्रति विशेष लगाव के कारण कई गैलेरियां स्थापित की गई है । इस अध्याय में आपने चित्रों की गैलेरियों के अतिरिक्त वन्य जीवों की खालों की प्रदर्शनियों का विवरण भी पाया है । जन्तुआलय उसी श्रेणी में अलग से अपना एक महत्व रखते हैं क्योंकि उनमें वन्य जीवन के जीव जीवित अवस्था में देखने को मिलते हैं । अधिकांश संग्रहालयों रख जन्तुआलयों की स्थापना देशी रियासतों के काल में हो चुकी थी जो यूरोपीय प्रभाव का भी द्योतक है । स्वतन्त्रता के पश्चात् नये राज्यों ने भी इन परम्पराओं का निर्वाह किया है । लेकिन आजकल वित्तीय समस्याओं के कारण इन संग्रहालयों की स्थिति में कोई सुधार हो नहीं रहा है तथा जन्तुआलयों की स्थिति तो बहुत बिगड़ रही है ।

21.07 अभ्यासार्थ प्रश्न

(अ) निम्न प्रश्नों का उत्तर 150 शब्दों में दीजिये : -

(1) अधिकतर संग्रहालयों की स्थापना किस काल में हुई ।

(2) बीकानेर, कोटा एवं उदयपुर के जन्तुआलयों पर प्रकाश डालिये ।

(3) अलवर का संग्रहालय किन-किन विशेषताओं के कारण चर्चित है ।

(ब) निम्न प्रश्नों का उत्तर 500 शब्दों में दीजिये ।

(1) संग्रहालयों में ऐतिहासिक कक्षों का क्या महत्व है?

(2) संग्रहालयों में स्थित हस्तलिखित ग्रन्थों पर प्रकाश डालिये ।

(3) जयपुर या उदयपुर के संग्रहालयों पर प्रकाश डालिये ।

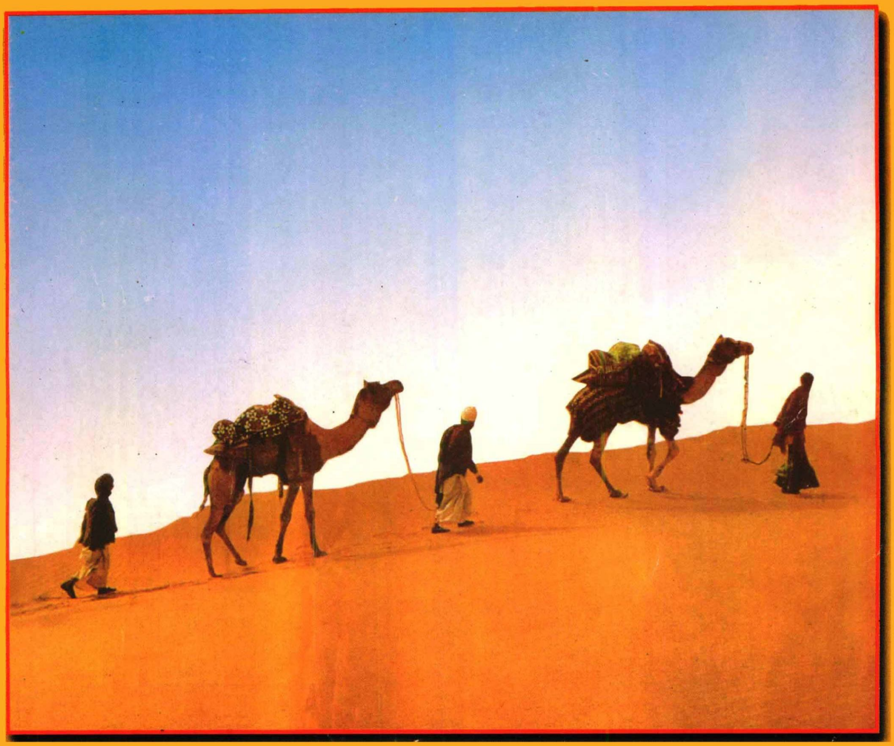

Published by : Director of Material Production & Distribution Kota Open University, Kota
Printed by : Premier Printing Press, Jaipur : Ph. : 213339, 214257